प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मंडल दिल्ली ।

संस्करण
दिसम्बर १९३८ : २०००
मूल्य
आठ आना

मुद्रक,
सेवाराम चावला,
चंद्र प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

प्रस्तावना

अंग्रेज़ों के हिन्दुस्तान पर अधिकार होजाने के दो नतीजे वहुत स्पष्ट रूप से पड़े। राजनैतिक दृष्टि से तरह-तरह के दमनकारी कानूनों द्वारा भारतीयों के सब नागरिक अधिकार छीन लिये गये और हमें नपुंसक वना दिया गया। हम अपने देश में ही दूसरों के गुलाम वन गये। देश के शासन कार्य में हमारा कोई हाथ न रहा। आर्थिक दृष्टि से इसका असर यह हुआ कि एक समय का संसार का सबसे सम्पन्न देश आज सबसे ज्यादा ग़रीब होगया।

आज हम अपने देश की आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं, लेकिन जबतक इस पुस्तक के लेखक डा० अहमद के शब्दों में "देश के आर्थिक शोषण की प्रवृत्ति और उसके व्यापक प्रभाव से हम परिचित न हो जावें, हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन पनप नहीं सकता।" हम आर्थिक शोपण आदि की चर्चा तो वहुत करते हैं, लेकिन उसका कोई निश्चित और प्रामाणिक आधार नहीं होता। ज्यादातर लोग वड़ी ग़ैरजिम्मेदारी के साथ इस महत्त्वपूर्ण विषय की चर्चा करते हैं। और आमतौर पर सुनी-सुनाई वातों पर अपने मत वना लेते हैं। अ० भा० कांग्रेस कमिटी ने भारत की जुदा-जुदा समस्याओं पर अंग्रेज़ी में कुछ प्रामाणिक पुस्तकें लिखा कर प्रकाशित की हैं। इनसे आम लोगों को यह भलीभांति मालूम हो सकता है कि भारत की समस्यायें दरअसल कितनी गहरी और फैली हुई हैं और उनका सच्चा स्वरूप क्या है।

मण्डल ने पहले इन्हीं पुस्तकों में से एक "हमारे किसानों का सवाल" (Agrarian Problem in India) पहले प्रकाशित कर चुका है। डा० अहमद की इस दूसरी पुस्तक जिसका यह पुस्तक अनुवाद है (Some Economic & Financial Aspects of British Rule in India)

में भारत की आर्थिक समस्या के सभी पहलुओं पर बड़ी अच्छी तरह रोशनी डाली गई है। हमारा विश्वास है कि इससे हमारे हिन्दी पाठकों को भारत की सबसे बड़ी आर्थिक समस्या का वास्तविक स्वरूप समझने में पूरी सहायता मिलेगी।

'लोक साहित्य माला' में यह निकाली जा रही है। हमारे नियम के अनुसार यह २०० पृष्ठों की पुस्तक नहीं हो पाई है। लेकिन इस कमी की पूर्ति पाठकों को आगे ज्यादा पृष्ठों की दूसरी पुस्तक देकर करदी जायगी।

—मंत्री

विषय सूची

अँग्रेज़ी राज में : हमारी दशा

विषय-प्रवेश

इस छोटी-सी किताब में हमने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भारत-सम्बन्धी राजनैतिक और आर्थिक नीतियों पर कुछ विचार करने की कोशिश की है। इस बात से बहुत कम लोग इन्कार करते हैं कि ग्रेट-ब्रिटेन भारत का शोषण करता रहा है और अब भी कर रहा है, लेकिन इस विषय पर सर्वसाधारण में जो चर्चा होती है, उसका कोई निश्चित आधार नहीं होता। इससे भी बुरी बात यह कि इस विषय पर सर्वसाधारण बड़ी ग़ैर-जिम्मेदारी से बेलगाम होकर विचार करते हैं। साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ी जानेवाली लड़ाई में आर्थिक स्वार्थों का संघर्ष सबसे ज्यादा महत्व रखता है। जबतक हम देश के आर्थिक शोषण की प्रवृत्ति और उसके व्यापक प्रभाव से पूरी तरह वाकिफ़ न हो जायँ, हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन पनप नहीं सकता और यह भी मुमकिन है कि हम कभी वास्तविक उद्देश्य को नजरअन्दाज़ भी कर जावें।

पिछली आधी सदी से ब्रिटिश साम्राज्यवाद और हिन्दुस्तान की जनता में संघर्ष बढ़ता जा रहा है। इस संघर्ष के मूल में सत्ता और प्रभुत्व का प्रश्न रहा है। एक तरफ़

राष्ट्रीय संघर्ष आर्थिक दृष्टि से कुचली हुई भारतीय जनता है। वह अब जाग उठी है और वर्त्तमान राजनैतिक स्थिति को बदलकर अपने रहन-सहन की हालतों में भारी सुधार

करने के लिए लगातार कोशिश करने लगी है। दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके समर्थक कुछ हिन्दुस्तानी हैं। वे इन सब कोशिशों को दबाने और राजनैतिक व आर्थिक स्थिति को ज्यों-का-त्यों रहने देने के लिए सिरतोड़ कोशिश कर रहे हैं।

बहुत से राजनीतिज्ञ प्रायः किन्हीं विशेष श्रेणियों को सन्तुष्ट करने के लिए या ख़ास हालतों से विवश होकर या भूल से भारत की लड़ाई को केवल आर्थिक या विशुद्ध राजनैतिक या विशुद्ध नैतिक और धार्मिक लड़ाई का नाम दे देते हैं। लेकिन वस्तुतः यह उनका भ्रम है। राजनीति-शास्त्र का नियम है कि अर्थशास्त्र, राजनीति और समाज-सम्बन्धी सब विचारधाराओं में एक अटूट सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध सार्वदेशिक है और बिना किसी जाति या देश के भेदभाव के सब समाजों पर लागू होता है। भारतीय युद्ध भी इसका अपवाद नहीं है। इसे भी भारत की राजनैतिक, आर्थिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज ही समझना चाहिये।

यूरप का पूँजीवाद जिन दिनों संसार में फैल रहा था, उन्हीं दिनों ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत को जीतकर हिन्दुस्तान की रिआया पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व क़ायम कर लिया। इसीके साथ ही हिन्दुस्तान और इंगलिस्तान की आर्थिक स्थिति में भी एक खास क़िस्म का सम्बन्ध स्थापित हो गया। इस सम्बन्ध में भारत की स्थिति शोषित होनेवाले उपनिवेश की थी। इस नई

स्थिति का राजनैतिक क्षेत्र में तो परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश पार्लमेंट देश की पूरी मालिक हो गयी। भारत-सरकार का नौकरशाही रूप भी इसी पार्लमेंट का एक अङ्ग है। आर्थिक क्षेत्र में इस नई स्थिति का परिणाम यह हुआ कि निरन्तर दीर्घकाल तक होनेवाले आर्थिक शोषण के परिणाम-स्वरूप भारतीय जनता बिलकुल ग़रीब हो गयी। स्थिति ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय जनता में ऐसा संघर्ष पैदा किया, जिसमें आज कोई समझौता या मेल हो ही नहीं सकता।

भारत के वर्त्तमान इतिहास में १८५७ का विद्रोह बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह विद्रोह संघर्ष के नये काल को पुराने काल से अलग करनेवाली एक रेखा है। यह घटना इस बात का चिह्न है कि मध्यकालीन भारत का जीवन समाप्त हुआ और समाज की नये सिरे से रचना शुरू हुई। इसका मुख्य अङ्ग ऊपर लिखा यह नया संघर्ष है। इसी समय साम्राज्यवादी शासकों ने नई आवश्यकताएँ अनुभव कीं और रेलवे, तार व सड़कों का बहुत तेज़ी से बनना शुरू हुआ। व्यावसायिक यूरप से सीधा सम्बन्ध करने के लिए स्वेज़ नहर भी इसी समय खोली गयी। यातायात के साधनों की इस ज़बरदस्त तरक़्क़ी ने जहाँ दोनों महाद्वीपों की—भारत और यूरप की। आर्थिक दशा पर बहुत प्रभाव डाला, वहाँ करोड़ों मनुष्यों के दार्शनिक व नैतिक विचारों पर भी उसका कम असर नहीं हुआ। लेकिन हिन्दुस्तान पर इस तरक़्क़ी का सबसे बड़ा असर यह

हुआ कि उसकी करोड़ों प्रजा के राजनैतिक और नागरिक अधिकार छिन गये तथा उसकी आर्थिक अवस्था भी एक दम गिर गयी । . . . .

डाक्टर पट्टाभि सीतारामैया का 'काँग्रेस का इतिहास' हमें विस्तार से बताता है कि इस सदी के शुरू से किस तरह हमारी उन स्वतन्त्रताओं का अपहरण किया गया है, जो और सब देशों के नागरिकों को प्राप्त हैं। वीसवीं सदी के शुरू से ही काँग्रेस सरकारी अफ़सरों की आँखों में खटकने लगी थी। सर आकलैंड कालविन ने कहा था—"काँग्रेस भारतीय प्रजा की प्रतिनिधि बनने का जो दावा करती है, वह ठीक नहीं है ।" साम्राज्यवाद के पोषक उस समय से आज तक यही रोना रोते आये हैं । भूतपूर्व वायसराय लार्ड विलिंगडन ने अभी हाल में ही लण्डन में कहा था:—"काँग्रेस को अब कोई कह नहीं रहा कि वह अपने को 'राष्ट्रीय' कहने का दावा कर सके ।" १८६० में बङ्गाल सरकार ने भारत-सरकार के हुक्म से एक सरकुलर निकालकर सरकारी नौकरों को काँग्रेस-आन्दोलन में भाग लेने और उसके जल्सों में शामिल होने से रोका था। उसके बाद से दमनकारी क़ानून में एक बाढ़-सी आगयी । आर्म्स एक्ट, सिडीशस मीटिंग्स एक्ट (१६०८), प्रेस एक्ट (१६०८), क्रिमिनल लॉ एमेण्डमेण्ट एक्ट (१६१०) इसी दमन-चक्र के विविध अङ्ग हैं। प्रजातन्त्र के राजनैतिक आन्दोलन को दबाने के लिए क्रिमिनल-

राजनैतिक पराधीनता

प्रोसीजर-कोड में नई धारायें भी जोड़ी गईं। विद्यार्थियों को राज-नैतिक सभाओं व प्रदर्शनों में भाग लेने से रोका जाने लगा। प्रजा-तन्त्र की भावना को दबाने के लिए देश-निर्वासन का तरीक़ा शुरू किया गया। तीसरे रेगुलेशन तथा इससे सम्बन्ध रखनेवाले रेगुलेशन का प्रयोग आम बात होगयी। बिना मुक़दमे के लम्बे अरसे के लिए नज़रबन्दी, ख़ुफ़िया-पुलिस के लगातार धावे, नये प्रेस एक्ट, १४४ और १२४ 'ए' धाराओं का खुला इस्तेमाल, हज़ारों राजनैतिक कार्यकर्ताओं को 'सी' क्लास की क़ैद, क्रिमि-नल-लॉ एमेण्डमेण्ट एक्ट के कारनामे, गवर्नर जनरल के आर्डि-नेन्स तथा लोगों के नागरिक अधिकारों के अपहरण के और भी बहुत-से तरीक़े—ये सब हाल की ही बातें हैं और इनसे हम अच्छी तरह वाकिफ़ हैं।

आर्थिक-क्षेत्र की भी एक लम्बी दुःखपूर्ण कहानी है। ग़रीबी तेज़ी से बढ़ रही है, लोगों के शरीर कमज़ोर होते जा रहे हैं, बेकारी ज़ोरों से सब पर ग़ालिब हो रही है और

माली हालत

सांस्कृतिक उन्नति भी रुक गयी है। आज भारतीय समाज की सभी श्रेणियों की कितनी बुरी हालत है, यह नीचे लिखी कुछ पंक्तियों से स्पष्ट हो जायगा।

आज एक हिन्दुस्तानी की औसत सालाना आमदनी ५०) से अधिक नहीं है। एक तरफ़ ऐसे लोग हैं, जो बग़ैर मेहनत किये दूसरे लोगों की मेहनत पर मुलछर्रे उड़ा रहे हैं, लेकिन ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम, नगण्य-सी है। दूसरी ओर शहरों व

गाँवों में झुण्ड-के-झुण्ड दीखनेवाले भिखारियों की बड़ी तादाद है। ये भिखारी बहुत ग़रीब और पागलपन से लेकर कोढ़-जैसी बीमारियों से ग्रस्त हैं। दूसरों की मेहनत पर जीनेवाली इन दो श्रेणियों के बीच में एक और श्रेणी है। इसकी संख्या बहुत अधिक है। यह न जाने किस तरह अपना गुज़ारा करती है? खेती और धन्धों में बहुत ही कम पैदावार होने से यह श्रेणी पेट भरकर खा भी नहीं सकती। यह श्रेणी बहुत ही ज़्यादा अशिक्षित है। खेती पर गुज़ारा करनेवाले किसान, जो भारत की सारी आबादी का ७० फ़ीसदी भाग है, बहुत ज़्यादा क़र्ज़दार हैं। उन पर कुल सालाना भूमिकर से कई गुना (१५ अरब रुपये) क़र्ज़ है। सारे भारत में औसतन एक किसान के पास ५ एकड़ से ज़्यादा ज़मीन नहीं है। लकड़ी के मामूली हल, आधे भूखे दुबले बैल आदि थोड़े से नाकाफ़ी साधनों से वह खेती करता है। उसकी उपज दुनिया में शायद सबसे कम होती है। वह बहुत ही थोड़ी और वह भी रूखा-सूखा खाता है। मिट्टी की गन्दी-सी झोपड़ी उसका घर है। काला अक्षर उसके लिए भैंस के बराबर है।

भारतीय कल-कारख़ानों के मज़दूर भी संसार में सबसे ग़रीब और ऋण-ग्रस्त हैं। बेकारी उनमें लगातार बढ़ती जा रही है और उनकी मज़दूरी भी लगातार घटती जा रही है। उन्हें बहुत घण्टे काम करना पड़ता है। वे बहुत ही छोटी-छोटी चालों में रहते हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सामाजिक सेवाएँ मानों उनके

लिएं हैं ही नहीं। ट्रेड-यूनियन के मज़दूर-आन्दोलनपर भी बहुत-सी क़ानूनी बन्दिशें लगाकर उन्हें पूरी तरह जकड़ दिया गया है।

भारत में शिक्षित समुदाय की भी हालत बहुत ख़राब है। शिक्षितों की बढ़ती हुई बेकारी के कारण आर्थिक अवस्था के डर से वह हमेशा डरता रहता है। निरंकुश शासन व राजनैतिक ग़ुलामी ने पढ़े-लिखे लोगों के दिल व दिमाग़ को साहसहीन और निराश कर दिया है। उनकी सांस्कृतिक उन्नति भी रुक गयी है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि समस्त भारत ही साम्राज्य-वादी शासन, आर्थिक शोषण व सांस्कृतिक हीनता का शिकार हो गया है और इसलिए वह संसार से बहुत ही पिछड़ गया है।

भारत से ब्रिटेन को लाभ

यदि हम आज के राजनैतिक और आर्थिक जगत् की रचना पर दृष्टिपात करें, तो हम देखेंगे कि सारा संसार कुछ एक बड़े-बड़े साम्राज्यों में बँटा हुआ है और उनमें एक-दूसरे से ऐसा संघर्ष हो रहा है कि उनमें कभी समझौता हो ही नहीं सकता। जिन इतिहास-प्रसिद्ध अवस्थाओं में यूरप की पूँजीवादी सभ्यता का खूब विस्तार हुआ था, और जिन अवस्थाओं में कनाडा, पश्चिमी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलेंड को मिला कर ब्रिटिश कॉमन वैल्थ आफ़ नेशन्स' बना था, नये प्रतिस्पर्धी साम्राज्यवाद के जन्म के साथ वे अवस्थायें हमेशा के लिए

समाप्त हो गयी। इस प्रतिस्पर्धी साम्राज्यवाद के विरोध के कारण ही १९१४—१८ का महासमर छिड़ा था। इसी तरह की पारस्परिक शत्रुताएँ ही आज पहले से भी कई गुना बड़े और घातक पैमाने पर पुनः शस्त्रीकरण का कारण बन रही हैं। ब्रिटेन की साम्राज्यवादी सरकार कभी अपनी खुशी से भारत को असली स्वराज्य देने के लिए कोई भी बड़ा क़दम उठायेगी, इस बात की कोई सम्भावना नहीं दीखती। ऐसा करने से ब्रिटेन को हिन्दुस्तान से मिलनेवाली बड़ी भारी सहायता बन्द हो जायगी और इस का परिणाम यह होगा कि भारत से प्राप्त होनेवाली सहायता के कारण ब्रिटिश-समाज की विभिन्न श्रेणियों में जो संघर्ष अभी तक दबा हुआ है, वह फूट पड़ेगा।

भारत के स्वराज्य का अर्थ ब्रिटिश पूँजीपति अच्छी तरह न समझते हों, यह किसी तरह नहीं माना जा सकता। "भारत हमारे साम्राज्य का धुरा है। यदि साम्राज्य अपने उपनिवेशों का कोई और भाग खो दे, तो हम जी सकते हैं, लेकिन अगर हम भारत को खो देते हैं, तो हमारे साम्राज्य का सूर्य डूब जायगा।" यह घोषणा लार्ड कर्ज़न ने १८९८ में की थी। ४ दिसम्बर १९३४ को कंज़रवेटिव दल की नेशनल यूनियन की कौंसिल और यूनियनिस्ट ऐसोशियेशन के सामने मिस्टर बाल्डविन ने कहा था—"मैं बहुत सोच-विचार के बाद इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि इस विशाल संसार में होनेवाली सब तब्दीलियों और परिस्थितियों में भी भारत को, जो एक छोटे महाद्वीप के बराबर है,

अपने साम्राज्य में हमेशा के लिए रखने का आपके पास बहुत अच्छा मौक़ा है।" हिन्दुस्तान ने पिछली लड़ाई में १० करोड़ पौंड नक़द भेंट में दान दे देने के अलावा दूसरे भी कई तरीक़ों से कई लाख पौंड की सहायता की थी। धन की सहायता के सिवाय उसने दस लाख से अधिक सिपाही दिये थे, जो मारे गये या घायल हुए। ब्रिटेन की राष्ट्रीय आमदनी और व्यावसायिक उन्नति में भारत से मिलनेवाली विविध सहायताओं का एक विशेष स्थान है। इसे अँग्रेज़ अपनी इच्छा से छोड़ देंगे, यह कोई भी नहीं मानेगा। वस्तुतः भारत पर ब्रिटेन का निरंकुश शासन कोई आकस्मिक घटना नहीं है, यह तो ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के ख़याल से उसका अनिवार्य और युक्तिसङ्गत परिणाम है।

तब इन नाममात्र के सुधारों और नये शासन-विधान का दिखावा क्यों किया जा रहा है? इसका सीधा-सादा जवाब है

निकम्मे सुधार

भारतीय-जनता की ओर से लगातार बढ़नेवाला दबाव। ये सुधार बिलकुल निकम्मे साबित हुए हैं और यह इस बात का सबूत है कि हिन्दुस्तान की जनता का दबाव ब्रिटेन पर काफ़ी नहीं पड़ा। जनता की एक भी शिकायत अबतक दूर नहीं हुई, इसीलिए यह संघर्ष अब तक जारी है। यूरप की पिछली लड़ाई के दिनों या उससे पहले ब्रिटेन पर जो दबाव डाला गया था, उसका परिणाम १९१९ ई० की मांन्टेगू चेम्सफोर्ड सुधार-योजना थी। कुछ ही दिनों में यह साबित होगया कि जिन बातों ने मिलकर भारतीय-

जनता की यह सोचनीय हालत कर दी है, उनमें से एक शिकायत भी इस नई 'उदारतापूर्ण' योजना से दूर नहीं हुई। आर्थिक दृष्टि से हिन्दुस्तान वैसे ही पिछड़ा रहा। आंकड़े तो यह बताते हैं कि उसकी हालत पहले से भी ख़राब होगयी। १६१६ के सुधारों से पहले हमें जो नागरिक और राजनैतिक अधिकार प्राप्त थे, सुधारों के १६ साल बाद आज उनके बारे में सरकार का रुख़ और भी ज़्यादा ख़राब व प्रतिगामी होगया।

नया विधान

१६३५ का नया इण्डिया-एक्ट भी भारतीय-जनता को एक इञ्च-भर भी वास्तविक सत्ता नहीं देता। जिस-जिस तरीक़े से यह शासन-विधान बनाया गया है, वही हमारी इस बात का प्रबल प्रमाण है। भारत के विश्वस्त सच्चे प्रतिनिधियों और ब्रिटिश-पार्लमेण्ट के प्रतिनिधियों में गोलमेज़-कान्फ्रेंसें नहीं हुईं। वे हुई हैं भारत की अँग्रेज़-सरकार के मनोनीत भारतीय और ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रतिनिधियों में। दूसरी गोलमेज़ कान्फ्रेंस में काँग्रेस ज़रूर शामिल हुई, लेकिन सहयोग की वह कोशिश असफल हुई और सरकार ने आख़िरी फ़ैसला करते हुए काँग्रेस के दृष्टि-कोण की ज़रा भी परवाह न की।

क़ानून बनाने और शासन करने के सर्वोच्च अधिकार इस नये क़ानून के द्वारा भी वायसराय और गवर्नरों के ही हाथ में हैं और वायसराय व गवर्नरों की नियुक्ति बादशाह के हाथ में है। ऊँचे न्यायालयों व ऊँचे सरकारी नौकरों पर भी भारतीय धारा-

सभाओं का कोई नियन्त्रण नहीं है। भारत के परराष्ट्र, राजनैतिक और धर्म-सम्बन्धी-विभाग सीधे वायसराय के हाथ में होंगे और इनमें मन्त्री कोई दस्तन्दाज़ी नहीं कर सकते। संघ-सरकार का ८० फ़ीसदी वजट इस नये क़ानून में भी ऐसा है, जिस पर धारा-सभा के सदस्यों की राय नहीं ली जायगी। फ़ौज पर भी भारतीय-मन्त्रि-मण्डल का कोई नियन्त्रण नहीं होगा। कमाण्डर-इन-चीफ़ सीधा वायसराय से वास्ता रखेगा। रियासतों के देशी राजा ब्रिटिश-भारत की धारा-सभाओं में सम्मिलित होंगे। संघ-धारा-सभाएँ यदि प्रजातन्त्र की दिशा में कोई प्रगति करेंगी, तो वे उस में पूरी आज़ादी से रुकावट डाल सकेंगे। केन्द्र में या अधिकांश प्रान्तों में अपर-चेम्बर की रचना इस ढङ्ग से की गयी है कि उनमें बड़े-बड़े ज़मींदार और दूसरे स्थापित स्वार्थ अमीर लोग भर जावें। इन रईसी कौंसिलों को भी असेम्बलियों के बराबर अधिकार दे दिये गये हैं, ताकि वे सरकार के साथ मिलकर सब प्रगतिशील प्रस्तावों को रद्दी की टोकरी में फेंक सकें। सम्पत्ति और शिक्षा की योग्यता के आधार पर निर्वाचन-मण्डलों को बनाते हुए बड़ी चालाकी से उन्हें साम्प्रदायिक विभागों में टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया है। गवर्नर-जनरल और गवर्नरों को कुछ विशेषाधिकार दे दिये गये हैं, जिनका वे अपनी समझ के अनुसार खुला प्रयोग कर सकते हैं, और अन्त में इस विधान को या इसके किसी हिस्से को बदलने का अधिकार सिर्फ़ ब्रिटिश-पार्लमेण्ट के ही हाथ में रखा गया है।

यह पूछा जा सकता है कि तब भारतीयों के हाथ में रहता क्या है ? 'फ़ेडरेशन' और 'प्रान्तीय-स्वराज्य' की अर्थरहित व सारहीन परिभाषाएं। बड़े-बड़े नामों को देखकर हम क्या करें ? हमें तो देखना यह है कि उसके अन्दर कुछ सार भी है या नहीं ? यदि हम विभिन्न देशों के फ़ेडरेशन-विधानों की परीक्षा करें, तो हमें मालूम होता है कि उन देशों में फ़ेडरेशन की वास्तविक सत्ता जनता के या उसके एक हिस्से के हाथ में है, लेकिन हिन्दुस्तान के नये विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ वास्तविक सत्ता जनता के हाथ में न होकर एक दूसरे देश के शासकों के हाथ में है। इसका सिवाय इसके और कोई अर्थ नहीं है कि आगे भी हिन्दुस्तान ग्रेट ब्रिटेन की 'कौलोनी' बन कर रहे। यद्यपि अब हिन्दुस्तान ऐसा 'फेडरेशन' कहा जायगा, जिसमें प्रान्त स्वतन्त्र हैं और रियासतें भी जिसका अङ्ग हैं, लेकिन भारत में प्रजातन्त्र स्थापित हो गया है, यह किसी तरह भी नहीं कहा जा सकता।

खण्ड १

: १ :

ब्रिटिश-औपनिवेशिक नीति का विकास

ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के शुरूआत के दिनों में ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति यह थी कि बड़ी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियों को एकाधिकार दिया जाय। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ऐसी ही कम्पनियों में से एक बहुत बड़ी कम्पनी थी। इसके बाद समय-समय पर अपनी आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार ब्रिटिश-सरकार अपनी औपनिवेशिक नीति में परिवर्तन करती रही। सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में, जबकि व्यापारिक कम्पनियाँ बड़े प्रदेशों पर कब्ज़ा करने लगी थीं, ब्रिटेन के राजनैतिक और आर्थिक जीवन में इन कम्पनियों के सञ्चालकों का प्रभाव ख़ूब बढ़ गया। औपनिवेशिक व्यापार से ज़्यादा-से-ज़्यादा नफ़ा कमाना ही उनका प्रधान उद्देश्य था। इसी उद्देश्य से वे व्यापार का एकाधिकार (मोनोपली) प्राप्त करते और उपनिवेशों से बहुत बड़ी तादाद में माल लाकर भारी नफ़ा कमाते। उपनिवेशों के अन्दरूनी व्यापार से भी उन्हें काफ़ी लाभ होता था। बहुत से उपनिवेशों को तो दूसरे देशों से व्यापार करने से भी इसी-

लिए रोक दिया गया कि सारा नफ़ा वे ख़ुद कमा सकें। मसलन् अमेरिका पर ज़ोर डाला गया कि वह किसी अन्य देश से निर्यात-व्यापार न करे, वह जो कुछ बाहर भेजे, ब्रिटेन को ही भेजे। क़ीमती चीज़ों और पूर्व की, ख़ासकर भारत की अमीरी ऐशो-इशरत की चीज़ों के व्यापार से उसे बहुत भारी लाभ हुआ। इस तरह औपनिवेशिक व्यापार से ग्रेट-ब्रिटेन में धनी व्यापारियों की एक नई श्रेणी पैदा होगयी। वही लोग बाद में १६वीं सदी के व्यावसायिक महारथी (Industrial Magnates) बन गये।

उद्योग-धन्धे

इस व्यावसायिक क्रान्ति ने इङ्गलैंड की आर्थिक-दशा को बिलकुल बदल डाला। व्यापारियों ने जो विशाल सम्पत्ति उपार्जित की थी, वह अब उद्योग-धन्धों के रूप में प्रवाहित होने लगी। तब औपनिवेशिक नीति में भी नई व्यावसायिक श्रेणी के हितों में अनुकूल परिवर्त्तन किये गये। इसी समय इङ्गलैंड ने अपने कारख़ानों के माल की खपत के लिए बाज़ारों की तथा कच्चे माल के लिए कृषि-प्रधान क्षेत्रों की आवश्यकता महसूस की। इसके लिए यह ज़रूरी समझा गया कि उपनिवेशों के घरेलू धन्धे तबाह हो जावें और उपनिवेशों की खेती व्यापारिक आधार पर चलाई जाय। यही किया भी गया। इस तरह उपनिवेशों और ख़ासकर हिन्दुस्तान का स्थान ब्रिटिश-साम्राज्य के लिए बहुत महत्वपूर्ण हो गया।

१८५० ई० तक व्यावसायिक पूँजीवाद ने ब्रिटेन में अपनी जड़ जमा ली थी; लेकिन यह भी साफ़ मालूम हो रहा था कि जब तक उपनिवेशों को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध न बनाया जाय, ब्रिटिश कारख़ानों का माल बहुत नहीं बिक सकता। उपनिवेशों की आर्थिक समृद्धि से उनका मुख्य अभिप्राय याता-यात के नये साधनों की बढ़ती थी। भारत और अफ्रीका के आन्तरिक प्रदेशों में जो समुद्री-तट से बहुत दूर थे, अँग्रेज़ी कारख़ानों का माल आसानी से नहीं पहुँच सकता था। लेकिन उन प्रदेशों तक माल पहुँचाना बहुत व्यय-साध्य था। इसके लिए बहुत बड़ी पूँजी की ज़रूरत थी। इङ्गलैण्ड ने लम्बे अरसे तक 'दुनिया का कारख़ाना' बनकर अतुल राशि इकट्ठी करली थी। अब उससे बहुत नफ़ा कमाया जा सकता था। इन्हीं दिनों—इस सदी के चौथे चरण में ब्रिटिश पूँजीवाद के 'चमत्कार-पूर्ण युग' का भी अन्त होगया। अन्य यूरोपियन राष्ट्र भी, जिनका व्यवसाय के क्षेत्र में ब्रिटिन के बहुत समय बाद प्रवेश हुआ था, ब्रिटेन से प्रतिस्पर्धा करने लगे थे। इस प्रतिस्पर्धा से ब्रिटिश व्य-वसायियों को पहले का सा नफ़ा मिलना बन्द होगया। इधर अँग्रेज़ पूँजीपतियों ने देखा कि उपनिवेशों में मज़दूरी बहुत सस्ती है और भारत में कच्चा माल भी बहुतायत से मिलता है, इसलिए वहाँ पूँजीलगाने से बहुत लाभ होगा। बस, ब्रिटिश पूँजी धड़ाधड़ उपनिवेशों में जाने लगी। अफ्रीका, भारत तथा साम्राज्य के दूसरे

उपनिवेशों में ब्रिटिश पूँजी

प्रदेशों में रेलवे, खानों तथा खेती पर ब्रिटिश पूँजी बड़ी तादाद में लगने लगी। इससे इङ्गलैण्ड की औपनिवेशिक नीति में एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। अब तक उपनिवेश केवल ब्रिटेन के पक्के माल के लिए बाज़ार और कच्चे माल के लिए उत्पादन का क्षेत्र थे, लेकिन अब वे ब्रिटेन की बची हुई अतिरिक्त पूँजी लगने का भी क्षेत्र बन गये। ज्यों-ज्यों इससे लाभ होता गया, उपनिवेशों में लगाई जानेवाली पूँजी भी कारखानों व बैंकों के रूप में बढ़ती गयी। स्थिति यह हो गई कि ब्रिटेन से बाहर जानेवाले पदार्थों में पूँजी की मात्रा सबसे बढ़ गई। बाहर लगी हुई पूँजी से ब्रिटेन के पूँजीपतियों को बहुत भारी लाभ होने लगा। यह हिसाब लगाया गया था कि १८८१ ई० में विदेशों में लगी हुई ब्रिटिश पूँजी की मात्रा १ अरब २५ करोड़ पौंड थी। इससे हरसाल ब्रिटेन को ५ करोड़ २० लाख पौंड की आमदनी होती थी। १९१५ ई० में बाहर लगी हुई पूँजी बढ़कर ३अरब ८०करोड़ ५०लाख पौ०होगयी और इससे २० करोड़ पौण्ड का लाभ हर साल होने लगा। बाहर लगी हुई ५० फीसदी पूँजी साम्राज्य में ही लगाई गई थी। मिस्टर विंस्टन चर्चिल के हिसाब के अनुसार १९२९ ई० में ग्रेट ब्रिटेन को हर साल बाहर लगी हुई पूँजी से ३० करोड़ पौण्ड लाभ होता था।

यह ध्यान में रखने की बात है कि उपनिवेशों में जो पूँजी लगी है, वह रेलवे, डाक, पुल आदि; चीनी, तम्बाकू

आदि ऐसे व्यवसाय, जिनका बनाना बहुत कठिन न हो, या कच्चे माल को ऐसी शक्ल देने के धन्धे, जिनसे उसे विदेशों में भेजना आसान और कम ख़र्चीला होजाय । आदि खास २ व्यवसायों में है । इसका महत्व भी स्पष्ट है। रेलवे या यातायात के नये अन्य साधनों को ब्रिटिश पूँजी लगाकर बढ़ाने का मुख्य उद्देश्य उपनिवेशों में ब्रिटिश व्यापार की वृद्धि करना ही था । फौजी ख़्याल से भी रेलवे आदि की आवश्यकता थी । इससे विलायती पूँजीपतियों ने भारत के भीतर गाँव-गाँव में माल पहुँचा कर देशी घरेलू धन्धों को तबाह कर दिया। कच्चे माल को प्राथमिक श्रेणियों से गुज़ारने के अनेक व्यवसायों में ब्रिटिश पूँजीपतियों ने इसलिए रुपया लगाया, जिससे कच्चा माल ब्रिटेन में आसानी से और कम खर्च में भेजा जासके । यह भी ध्यान देने की बात है कि ऐसे व्यवसायों में ब्रिटिश पूँजी बहुत कम लगी, जो ब्रिटेन के कारख़ानों से सफलतापूर्वक मुकाबिला कर सकें । मसलन कपड़े का व्यवसाय ।

इस तरह हम देखते हैं कि ब्रिटिश-साम्राज्यवाद ने उपनिवेशों का तीन प्रकार से आर्थिक शोषण किया ।

उपनिवेश-विस्तार के शुरुआत में व्यापारिक कम्पनियों को एकाधिकार देना पहला क़दम था । एकाधिकार लेकर ये कम्पनियाँ उपनिवेशों से बहुत सस्ता माल लेकर महंगे दामों में बेचतीं और ख़ूब नफ़ा कमाती थीं ।

दूसरा क़दम तब उठाया गया, जबकि ब्रिटेन में कल-कार-

खाने खूब चमक उठे थे। तटकर तथा दूसरी अनेक आर्थिक व्यवस्थाओं द्वारा उपनिवेशों में अपना माल खूब भेजा जाने लगा।

तीसरा क़दम १८५० ई० के बाद तब उठाया गया, जब वहाँ (ब्रिटेन में) खूब सम्पत्ति बढ़ गई थी। उपनिवेशों के प्राकृतिक स्रोतों पर ब्रिटिश पूँजी ने बड़ी दृढ़ता से क़ब्ज़ा कर लिया। इस पूँजी ने उपनिवेशों को दो प्रकार से हानि पहुँचाई। एक ओर उपनिवेशों में उत्पन्न की गई विशाल सम्पत्ति हर साल इङ्गलैण्ड जाने लगी, दूसरी ओर इन शोषित उपनिवेशों के आर्थिक स्रोत विदेशी पूँजीपतियों की दया पर निर्भर होगये। वे हमेशा उपनिवेशों के हितों पर ब्रिटिश-हितों को तरजीह देते और इस तरह उपनिवेशों को व्यावसायिक दृष्टि से पीछे रखने में सफल होगये।

: २ :

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रारम्भिक नीति

भारतवर्ष पर अनेक बार विदेशियों ने आक्रमण किया है, और शासन किया है। लेकिन ब्रिटिश-विजय पहले की सब विजयों से भिन्न थी। ब्रिटेन आर्थिक दृष्टि से काफ़ी उन्नत देश था। पहली विजयों ने भारत के आर्थिक संगठन में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं किया था, लेकिन ब्रिटिश-विजय का परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज का स्वतन्त्र प्राचीन आर्थिक सङ्गठन नष्ट होगया। साम्राज्यवाद से सम्बन्ध के परिणामस्वरूप प्राचीन ग्राम-संस्थाएँ टूटने लगीं, भारतीय ग्राम का आर्थिक स्वातन्त्र्य तेज़ी से ख़तम होने लगा, खेती और उद्योग-धन्धों में जो बहुत लम्बे अरसे से सम्बन्ध चला आता था, वह उलट-पुलट गया, खेती को व्यापारिक ढङ्ग पर चलाया जाने लगा, नया पूँजीवाद फूलने लगा, और इन सबके साथ नयी सामाजिक श्रेणियाँ और नयी सामाजिक समस्याएँ भी पैदा हो गयीं। दूसरे उपनिवेशों की भाँति भारत में विदेशी पूँजी ने यूरोप जैसे प्रगतिपूर्ण परिणाम पैदा नहीं किये। यूरोप में तो पूँजीवाद ने सामन्तशाही को नष्ट करने और उत्पादक शक्तियों को उन्नति करने में बहुत बड़ा

कायापलट

हिस्सा लिया था; लेकिन भारत में साम्राज्यवाद ने वे सब बुरे परिणाम पैदा किये, जो सामन्तशाही की प्रथा में सम्भव थे।

इसका मुख्य कारण था नये शासकों की भूमि-सम्बन्धी नीति। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने एक ख़ास ढङ्ग से देश के आर्थिक विकास को तबाह कर दिया। १६ वीं सदी में यूरोप में जो सामाजिक उन्नति हुई, उसने उसे एकदम कृषि-प्रधान से व्यवसाय-प्रधान बना दिया, लेकिन भारत में साम्राज्यवाद के कारण ठीक इसका उलटा असर हुआ। भारत के फले-फूले सब व्यवसाय जान-बूझकर कुचल दिये गये और लोगों को अधिकाधिक संख्या में ज़मीन पर गुज़ारा करने को बाधित किया गया। इसका फल यह हुआ कि जो भारत संसार में सबसे अधिक व्यवसाय-प्रधान देश था, कुछ ही शताब्दियों में केवल खेती की उपज पर गुज़ारा करनेवाला देश बन गया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भविष्य में होनेवाले नियमबद्ध शोषण के लिए क्षेत्र तैयार कर दिया। यही उसका

व्यापार पर कब्ज़ा

विशेष कार्य है। इसने बहुत से प्रदेश जीत लिये, बहुत से राजाओं को हराया और देश पर ब्रिटेन का प्रभुत्व क़ायम कर दिया। कम्पनी की आर्थिक नीति ने भारत और ब्रिटेन के आर्थिक हितों में विरोध के वे अँकुर बो दिये, जो ब्रिटेन की शाही हकूमत में ख़ूब फले-फूले। आन्तरिक और विदेशी व्यापार-द्वारा कम्पनी जितना भी भारत से लूट-खसोट सकती थी, उसने अपने शुरूआत के दिनों में ही लूट लिया।

लेकिन १८ वीं सदी के अन्त में तो उसकी लूट बहुत ही ज्यादा बढ़ गयी। उस समय तक भारत का एक बड़ा हिस्सा उसके कब्जे में आगया था। प्रजा पर भारी-भारी टैक्स लगाये गये। कम्पनी के अफ़सरों ने राजनैतिक छल-कपटों और आपत्तिजनक व अनुचित व्यापार-द्वारा भी बहुत लूट मचाई।

ग्रेट-ब्रिटेन के साथ जो व्यापार होता था, चीन के साथ जो तिजारत होती थी, समुद्र-तटों का जितना व्यापार था और नमक, सुपारी व अफ़ीम आदि का देश के अन्दर जो व्यापार था, उन सब भारतीय-व्यापार पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एकाधिकार कर लिया था। कम्पनी के एजेण्ट देश के सब भागों में गाँव-गाँव तक पहुँच गये और दस्तकारों को सिर्फ़ अपने (कम्पनी के एजेंट) साथ व्यापार करने के लिए बाधित कर दिया। कम्पनी के अफ़सर एकाधिकारवाली चीज़ों के दाम मनमाना नियत कर देते थे। उन्हीं दामों पर लाचार होकर कारीगरों को अपनी तैयार की हुई चीजें बेचनी पड़ती थीं। जो न बेचता, उसके साथ ज़बरदस्ती की जाती, उसे तंग किया जाता। बुनकरों को कम्पनी के साथ ठेका करने पर मजबूर किया गया और जो ठेका तोड़ता, उसपर जुर्माना कर दिया जाता, उसे जेल में डाल दिया जाताया कोड़े लगाये जाते। गवर्नर जनरल ख़ुद भी अनेक चीज़ों के व्यापार में शरीक होते थे। वारन हेस्टिंग्ज़ के प्रसिद्ध मुक़दमे में इस प्रकार के अनेक उदाहरण पेश किये गये। हर्बर्ट स्पेन्सर के कथनानुसार "पिछली अठारहवीं सदी के एँग्लो-

इण्डियन पेरू और मैक्सको के अपने साथियों से किसी तरह भी कम क्रूर न थे। वर्क ने इनके स्वभाव का चित्रण 'उड़ते पञ्छी' कहकर किया है। कम्पनी के डायरेक्टरों ने यह ख़ुद मंजूर किया था कि देश के आन्तरिक व्यापार को हस्तगत करने के लिए इतना जुल्म व सितम ढ़ाया गया, जिसकी उपमा किसी देश या किसी समय के इतिहास में भी नहीं मिलती। आप ख्याल तो कीजियेकि उनके कारनामे कितने काले होंगे! वैसिरार्ट ने बताया है कि अँग्रेज लोग देसियों को अपने नियत किये गये मूल्य पर माल वेचने को वाधित करते थे और जो इसमें ज़रा भी चूँ-चरा करता था, उसे कोड़ों की या गिरफ्तारी की सज़ा दीजाती थी।"* यह हिसाब भी लगाया गया था कि १७५७ से १७६६ ई० तक अर्थात् कुल १० सालों में कम्पनी ने ६० लाख पौण्ड भारतीयों से भेंट आदि के रूप में लिया। स्वयं क्लाइव ने बङ्गाल के नवाव से बहुत वड़ी राशि भेंट के तौर पर स्वीकार की। मैकाले ने अपने निवन्ध में कम्पनी के शासन का सुन्दर चित्रण किया है। उसने लिखा है—"कम्पनी के नौकर प्रायः समस्त आन्तरिक व्यापार का एकाधिकार कम्पनी के लिए नहीं, बल्कि अपने लिए प्राप्त कर लेते थे। वे देसियों को सस्ता वेचने और महँगा खरीदने पर बाधित करते थे...... वे अपने साथ अपने पर निर्भर रहनेवाले कुछ ऐसे लोग रखते थे, जो प्रान्तों में घूम-घूम कर गाँवों को उजाड़ देते और आतंक या भय का राज्य क़ायम कर देते थे।

* सोशल स्टैटिक्स—प्रथम संस्करण, पृ० २१७

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रत्येक नौकर को अपने अफ़सर के सब अधिकार प्राप्त थे और प्रत्येक अफ़सर के हाथ में कम्पनी के सब अधिकार थे। इस तरह बहुत थोड़े समय में सारे देश का धन कलकत्ते में खिंच आया और तीन करोड़ मानव-प्राणी बिलकुल ग़रीबी और तबाही की चरम सीमा पर पहुँच गये। वे पहले (मुग़ल-शासन में) भी निरंकुशता के नीचे रहते आये हैं, लेकिन यह निरंकुशता उनके लिए भी नया अनुभव था।"

भूमि-सम्बन्धी नीति

कम्पनी की सरकार ने अपनी भूमि-सम्बन्धी नीति द्वारा सामन्त-पद्धति के कई बहुत ही बुरे रूपों को जन्म देकर उन्हें क़ानूनी शक्ल दे दी। बङ्गाल, बिहार और मद्रास व युक्तप्रान्त के कुछ हिस्सों में किसानों से ज़मीन पर का हक़ छीनकर बड़े-बड़े ज़मींदारों को दे दिया गया। इनमें से अधिकांश ज़मींदार मुग़ल-शासन के समय केवल मालगुज़ारी वसूल किया करते थे, ये ज़मीन के मालिक कभी नहीं माने गये। इस नयी ज़मींदारी-प्रथा के कारण किसानों पर भारी आफ़त आ गई। सरकार ने ज़मींदारों से जो मालगुज़ारी माँगी, वह बहुत अधिक थी। उसने ज़मींदारों को यह अधिकार भी दे दिया कि अपनी इच्छानुसार वे किसानों पर लगान भी बढ़ा सकते हैं। सरकार ज़मींदारों से मालगुज़ारी बड़ी सख़्ती से वसूल करने लगी। यदि कोई ज़मींदार नियत मालगुज़ारी न दे सकता, तो उससे ज़मीनें छीनकर नीलाम कर दी जाती थी और जो सबसे ज़्यादा मालगुज़ारी देना मानता, उसी को ज़मीनें बेच

दी जातीं। १७७२ ई० में बङ्गाल-कौंसिल के प्रेज़िडेण्ट ने डायरेक्टरों को लिखा था—"ज़मींदारों और बड़े किसानों से नाज़िम जितना खींच सकते थे, खींच लेते थे और इसके बाद उन्हें अपने नीचे के सब आदमियों को लूटने-खसोटने की पूरी आज़ादी दे देते थे। जब वे ज़मींदार इस तरह छोटे-छोटे किसानों को तबाह करके पैसा जोड़ लेते थे, तब वे नाज़िम उन्हें फिर लूटने का विशेष अधिकार इस्तेमाल में लाते थे।" इस तरह ज़मींदार और किसान दोनों तबाह हो जाते।

मालगुज़ारी में कई गुना वृद्धि

कम्पनी के शासन में ज़मीन पर टैक्स बड़ी तेजी से बढ़ गये। ज़मींदारी इलाक़े में किसानों से उन्हें तबाह करनेवाला भारी लगान लेना आम बात हो गई। और जहाँ रैयतवारी-पद्धति थी, वहाँ मालगुज़ारी बहुत अधिक—कुल पैदायश का ५० फ़ीसदी—बढ़ा दी गई। १७६४-६५ ई० में बंगाल से कुल मालगुज़ारी ८,१८,००० पौंड वसूल हुई थी, लेकिन १७६५-६६ ई० में—कम्पनी के शासन के पहले साल ही—यह मालगुज़ारी बढ़कर १४,७०,००० पौंड हो गई और १७९०-९१ में २६,८०,००० पौण्ड! १८१२-१३ में ४९ लाख पौण्ड मालगुज़ारी वसूल हुई थी, तो १८२२-२३ में १ करोड़ ३६ लाख और १८५७-५८ में १ करोड़ ५७ लाख पौण्ड हो गई अर्थात् कम्पनी की कुल आय का एक तिहाई हिस्सा!

सरकार और जमींदारों की इस भारी लूट ने किसानों को बिलकुल तबाह कर दिया। उनमें दुर्भिक्षों और बीमारियों को

भी वरदाश्त करने की ताक़त न रही। १७७० ई० के दुर्भिक्ष में एक करोड़ भूख से बिलबिलाते हुए आदमी मर गये, और तब भी मालगुजारी बढ़ाई जारही थी। १७७२ ई० में वारेन हैस्टिंग्ज़ ने कम्पनी के डायरेक्टरों को लिखा—"कुल आबादी की एक तिहाई लोगों के ख़तम होने और खेती में भी लगातार कमी होने के बावजूद भी १७७१ ई० में मालगुजारी १७६८ से भी बहुत बढ़ गयी।......हमारा यह अनुमान था कि इतनी बड़ी आपत्ति के कारण मालगुज़ारी में भी उसी हिसाब से कमी होगी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ और इसका मुख्य कारण यह था कि वसूली में ज़्यादतियों का स्टैण्डर्ड पहले जैसा ही ऊँचा रहा।"

तिजारत का इजारा, राजनैतिक लूट-खसोट, रिश्वतें और ज़मीन पर भारी टैक्स—इन सबके कारण हरसाल भारत से विशाल राशि इङ्गलैण्ड जाने लगी।

भीषण परिणाम

भारत से ब्रिटेन को सम्पत्ति का एक बड़ा भारी प्रवाह निरन्तर बहने लगा। यह हिसाब लगाया गया है कि पिछली सदी के शुरू में भारत से हरसाल क़रीब ३० लाख पौण्ड की रक़म ब्रिटेन चली जाती थी और यदि इसमें अँग्रेज़ों की निजी रक़में भी शामिल करली जायँ तो ५० लाख पौण्ड प्रति वर्ष बाहर चले जाते थे। यह रक़म हरसाल बहुत तेज़ी से बढ़ती जाती थी। १८३५-३६ ई० के सालों में इस रक़म की सालाना औसत ५३,४७,००० पौण्ड और १८५५-५६

के सालों में ७७,३०,००० पौण्ड होगई। देश से इस प्रकार सम्पत्ति प्रवाह का जो भीषण परिणाम हुआ, उसका कुछ अन्दाज़ा तत्कालीन अँग्रेज़ शासकों व लेखकों की नीचे लिखी सम्मतियों से लगेगा।

दक्षिण के माल-कमिश्नर मिस्टर सैविलि मैरियर ने १८३६ ई० में सर आर० ग्राण्ड के एक पत्र में लिखा था—"पिछले कुछ सालों में मैंने तथा मेरे अनेक साथियों ने भारतीयों का और विशेषकर राष्ट्र अधारभूत किसानों का विनाश बहुत ही दुःख से देखा है। आप यह जानकर दाँतों तले अँगुली दबा लेंगे की अत्याचार और दमन के कठोर मुस्लिम-शासन में भी जब प्रजा पर टैक्स बहुत भारी मात्रा में लगाये जाते थे, तब भी भारतीय उससे कहीं ज्यादा खुशहाल थे, जितने अब अँग्रेज़ों के "दयालतापूर्ण-शासन" में वे खुशहाल हैं। और मज़े की बात यह कि इस "दयालुतापूर्ण-शासन" का हमें अभिमान है। क्या यह हमारी बदनामी नहीं है?......इसके केवल आर्थिक दुष्परिणाम ही नहीं हुए। इनके अलावा कई दूसरी अवाञ्छनीय और प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी पैदा हो गई हैं, जिन्हें विदेशी शासन से कभी अलग नहीं किया जा सकता। देश किस तरह ग़रीबी की चरम सीमा तक पहुँच रहा है, यह तुम इसीसे समझ लोगे कि सरकारी आय का एक बड़ा भारी हिस्सा लोगों ने बरसों से इकट्ठी की हुई अपनी छोटी-सी बचत को ख़तम करके अदा किया है। मेरा संकेत किसानों की ओर है।......

मुझे विश्वास है कि जाँच से यह साबित हो जायगा कि किसान की सम्पत्ति का बड़ा हिस्सा—मवेशी और घरों के बरतन तक उनके हाथ से सदा के लिए निकलकर सरकारी कोष को भरने के काम आते हैं। इस शोचनीय गरीबी का दूसरा परिणाम यह हुआ है कि हज़ारों-लाखों किसान मज़दूरी के लिए इधर-उधर मारे-मारे फिरते नज़र आते हैं। देश के किसी कोने में चले जाइये, ये किसान आपको घूमते हुए नज़र आवेंगे। वे बड़ी ख़ुशी से छोटी-से-छोटी मज़दूरी भी स्वीकार कर लेते हैं। एक वाक्य में मैं कहूँ तो हरएक बात और हरएक घटना देश को बड़ी तेज़ी से निहायत गरीबी की ओर ले जारही है।"

बङ्गाल सिविल-सर्विस के सर फ्रैडरिक जानशोर ने १८३७ में लोगों की हालत का इस तरह बयान किया था—"भारत की सुख-शान्ति के वे दिन गये! किसी समय उसके पास जो ऐश्वर्य था, उसका एक बड़ा भाग हड़प लिया गया है। एक कठोर कुशासन में पड़कर उसकी शक्तियों का नाश होगया है। थोड़े से लोगों के फ़ायदों के लिए लाखों मनुष्यों के हितों का बलिदान कर दिया गया है। अँग्रेज़-सरकार की पीसनेवाली लूट-खसोट ने देश की और लोगों की दरिद्रता पर भीषण प्रभाव डाला है। इस लूट की उपमा किसी और देश के इतिहास में नहीं मिलती है।"

ज़मीन के बन्दोबस्त पर मतभेद प्रकट करते हुए लार्ड -कार्नवालिस ने १७६० ई० में लिखा था—"उपर्युक्त कारणों से

सम्पत्ति का जो भीषण प्रवाह यहाँ से ब्रिटेन को जा रहा है और निजी भेंटों के रूप में जो भारी रक़म यहाँ से चली जा रही है, उसका परिणाम पिछले कुछ सालों से और अब तो बहुत भीषणता से अनुभव किया जारहा है। इसके परिणाम-स्वरूप देश में धन और मुद्रा की जहाँ भारी कमी होगई है, वहाँ इसकी वजह से खेती, और देश के साधारण व्यापार में भी बड़ी तेज़ी से मन्दी आगई है।

सर जॉन शोर ने १७८७ में कहा था-"ईस्ट इण्डिया कम्पनी इस देश में व्यापार और शासन दोनों करती है। व्यापारी की हैसियत से वह इस देश के व्यापार को चूस रही है, और शासक की हैसियत से वह देश के राजस्व पर क़ब्ज़ा कर रही है। इस देश की सरकारी आमदनी यूरोप में यहाँ के पदार्थों के रूप में भेज दी जाती है। यूरोप में भारतीय माल की खपत और माँग बढ़ने से जो लाभ भारतीयों को पहुँचा है, वह विदेशी शासन से होनेवाली बुराइयों की तुलना में बहुत ही कम है।"

बङ्गाल और बिहार की हालत की जाँच १८०७-१४ ई० में की गई थी। उस जाँच की परीक्षा करते हुए मिस्टर माण्टमोमरी ने १८३५ ई० में लिखा था—"जिन दो बातों ने हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पहली बात यह कि देश सम्पन्न है, और दूसरी यह कि देश-निवासी बहुत ग़रीब हैं। ब्रिटिश भारत से ३० लाख पौण्ड का प्रति वर्ष प्रवाह होता है। इस तरह तीस

साल में १२ फ़ीसदी चक्रवृद्धि व्याज की दर से (यह दर भारत में आम तौर पर प्रचलित है) ७२ करोड़ ३६ लाख पौण्ड की भारी रक़म भारत से वाहर चली गयी ......इतना भीषण और निरन्तर प्रवाह इंगलैण्ड को भी वहुत जल्दी तबाह कर देता ।" अब आप कल्पना कीजिये कि भारत पर, जहाँ कि एक मज़दूर की औसत आमदनी दो तीन आने से अधिक नहीं है, इसका कितना भीपण प्रभाव पड़ा होगा।"

इस धन-प्रवाह की तीव्र निन्दा करते हुए इतिहास की अपनी पुस्तक में मि० मिल ने लिखा है, "देश के सम्पत्ति स्रोत लगातार ख़ाली हो रहे हैं, लेकिन उसकी कमी किसी दूसरी ओर से पूरी नहीं होरही। राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों की नाड़ियों से जीवन-रक्त बराबर निकाला जा रहा है, लेकिन उस रक्त को फिर से बनाने के लिए (उद्योग-धन्धे के शरीर को) कोई पोपक द्रव्य नहीं खिलाया जा रहा ।"

ईस्ट इंडिया कम्पनी की प्रारम्भिक अर्थनीति के परिणाम क्या और कैसे हुए, यह दिखाने के लिए उपर्युक्त सम्मतियाँ शायद काफ़ी होंगी।

: ३ :

घरेलू धन्धों का नाश

हम ऊपर कह चुके हैं कि ग्रेट ब्रिटेन में व्यावसायिक-पूँजी-वाद ने ब्रिटिश-साम्राज्यवाद की आर्थिक-नीति में एक नया परिवर्त्तन कर दिया। इस नयी नीति के दो पहलू थे। भारत को अंग्रेज़ी माल के बाज़ार बनाने के लिए यहाँ के घरेलू धन्धों का क्रमिक नाश और अँग्रेज़ी कारख़ानों का कच्चा माल कम क़ीमत और बहुत मात्र में पहुँचाने के लिए भारतीय-कृषि का व्यापारीकरण। ब्रिटिश-हितों के अनुकूल नयी नीति चलाने के लिए सरकार ने भारतीय तटकरनीति, मुद्रा और विदेशी विनिमय को अपने हाथ में कर लिया।

तट-कर नीति

१६वीं सदी के मध्य तक भारत में ब्रिटिश-सरकार की तट-कर नीति का एक ही उद्देश्य था। यहाँ बने हुए माल के निर्यात को निरुत्साहित करना और विलायती माल से भारतीय बाज़ारों को भर देना। इंगलैण्ड अपने लिए तो संरक्षण की नीति पसन्द करता था, लेकिन हिन्दुस्तान पर उसने मुक्त-द्वार की नीति लाद दी। अँग्रेज़ी जहाज़ों में लदकर भारत में आनेवाले विलायती कपड़ों पर केवल ३॥ फ़ीसदी चुंगी देनी पड़ती थी, लेकिन इंगलैण्ड जानेवाले भारत के सूती कपड़ों पर १० फीसदी और रेशमी

कपड़ों पर २० फ़ीसदी चुंगी लगती थी। भारत में आये हुए अँग्रेज़ी ऊनी माल पर सिर्फ़ २ फ़ीसदी चुंगी लगती थी, परन्तु ग्रेट-ब्रिटेन जानेवाले भारतीय ऊनी माल को ३० फ़ीसदी चुंगी देनी पड़ती थी। इंग्लैण्ड में भारत से जो कच्चा लोहा जाता था, उसपर ५ शिलिङ्ग प्रति टन कर देना पड़ता था, लेकिन इंग्लैण्ड से आनेवाले कच्चे लोहे पर भारत में एक पैसा भी चुंगी नहीं ली जाती थी। भारत की चीनी पर इंग्लैण्ड में उतनी ही चुंगी लगती थी, जितनी वैस्ट-इण्डीज़ की चीनी पर, लेकिन भारतीय शराब पर १५ शिलिंग प्रति गैलन ड्यूटी देनी पड़ती थी; जबकि वैस्ट-इण्डीज़ की शराब पर सिर्फ़ ९ शिलिंग प्रति गैलन ड्यूटी लगती थी। भारत में छपी हुई किताबों पर भी इंग्लैण्ड के तटों पर २॥ पौण्ड प्रति हण्डरवेट (क़रीब ५६ सेर) कर देना पड़ता था।

धन्धों की तबाही

तट-करों की इस नीति के कारण भारतीय उद्योग-धन्धों की चीज़ों का निर्यात स्वभावतः ही बहुत कम होगया और भारत में ब्रिटिश माल धड़ाधड़ आने लगा। भारत से ब्रिटेन जानेवाले सूती कपड़ों में इस तरह कमी होती गई—

१८१४	१२,६६,६०८ थान
१८२१	५,३४,४९५ ,,
१८२८	४,२२,५०४ ,,
१८३५	३,०६,०८६ ,,

इसी अरसे में इंग्लैण्ड का सूती कपड़ा भारत में आना इस तरह बढ़ने लगा—

१८१४	८,१८,२०८ गज
१८२१	१,६१,३८,७२६ ,,
१८२८	४,२८,२२,०७७ ,,
१८३५	५,१७,७७,२७७ ,,

१८१५ ई० में भारत से १३ लाख पौण्ड का कपड़ा इंग्लैण्ड में गया था, लेकिन १८३२ ई० में घटकर सिर्फ एक लाख पौण्ड का रह गया। १८१५ ई० में इंग्लैण्ड से भारत में २६ हज़ार ३सौ पौण्ड का कपड़ा आया था, लेकिन १७ साल वाद १८३२ ई०में ४ लाख पौण्ड का आया।

रेशमी कपड़ों और रेशम के निर्यात में भी इसी तरह वहुत तेज़ी से कमी हुई। १८२८-२९ में भारत से ६,२०,००० पौण्ड का रेशम गया था, लेकिन १८३१-३२ में घटकर सिर्फ ५,४०,००० पौण्ड का गया। रेशमी माल के साथ भी यही हालत हुई। एक वार गिरकर फिर कभी तरक्की नहीं हुई।

ऊनीमाल को भी गहरा धक्का लगा। १८२८ से १८३८ तक भारत से इंग्लैण्ड जानेवाले ऊनी माल की औसत २८,००० पौण्ड सालाना से अधिक नहीं हुई, लेकिन ब्रिटिश ऊनी माल १८५७ के कुछ सालों वाद ही ३ लाख पौण्ड से वढ़कर ८ लाख पौण्ड का आने लगा।

भारतीय चीनी का निर्यात भी लगातार कम होने लगा और १९वीं सदी के अन्त तक तो वहुत ही कम रह गया।

इसी तरह इंग्लैण्ड के मशीन से वने हुए वाक़ी सस्ते माल ने

लोहे का सामान, शीशा, काग़ज़ जैसे कई अच्छे-अच्छे भारतीय उद्योग-धन्धों को तबाह कर दिया।

भारत का जहाज़ी व्यवसाय खूब चमक रहा था, इससे इंग्लैण्ड के जहाज़ी व्यवसाय को डाह पैदा हुई। कम्पनी के डायरेक्टरों ने पक्षपातमूलक नीति से इस व्यवसाय को भी नष्ट कर डाला। १७५६-६६ में ४१०५ टनों के छः जहाज़ और ५०० से ६०० टनों के ५ जहाज़ कलकत्ते में बनाये गये थे। १७६६-६८ में कई जहाज़ पानी में चलने भी लगे थे, लेकिन १८४० ई० से कलकत्ते में जहाज़ बनाना बिलकुल बन्द कर दिया गया।

१८५० ई० तक भारतीय उद्योग-धन्धों की तबाही वस्तुतः पूरी हो चुकी थी। उन्नीसवीं सदी के चौथे दशक में रेलवे काफ़ी बन चुकी थी और उसके द्वारा देश के गाँव-गाँव तक अँग्रेजी माल पहुँचने लग गया था। इस तरह अँग्रेजी माल ने हिन्दुस्तान के बाज़ारों में भी स्थायी प्रभुत्व क़ायम कर लिया।

: ४ :

भारतीय खेती का व्यापारीकरण

उद्योग-धन्धों की तवाही ने देश के सामाजिक संगठन पर भी क्रान्तिकारी प्रभाव डाला। उद्योग-धन्धों के नाश से वेकार और तवाह दस्तकार खेती की ओर भागे। खेतिहरों की तादाद वेहद वढ़ने से भूमि पर भी भार वहुत अधिक हो गया, और जो किसान पहले ही सरकारी टैक्सों की ज्यादती से वेहाल होरहे थे, वे अव और भी खराव होने लगे। विदेशी शासकों का भी स्वार्थ इसी में था कि समस्त भारतीय जनता की आजीविका का साधन खेती हो जाय, ताकि निर्यात के लिए कच्चा-माल खूव सस्ता मिलने लगे। इसका परिणाम भी वही हुआ। व्यावसायिक माल का निकास वहुत तेज़ी से घट गया और कच्चा माल धड़ाधड़ वाहर जाने लगा। उदाहरण के लिए १८४६ ई० में १७,७५,३०६ पौण्ड की रूई भारत से गई, लेकिन १८५८में वढ़कर ४३,०१,७६८ पौण्ड की और १६०१ में १,०१,२६,६४७ पौण्ड की रूई वाहर गई। जूट का निकास भी इसी तरह वढ़ा। १८४६ में ६८,७१७ पौण्ड का जूट गया, तो १८५८ में ३,०३,२६२ पौण्ड और १६०१ में १,०८,७७,७५६ पौण्ड का जूट वाहर गया। यही हाल अनाज के निकास का हुआ। १८४६, १८५८

और १९०१ में क्रमशः ८,५८,६९१; ३७,९०,३७४ अ
१,४०,६९,५०९ पौण्ड का अनाज इंग्लैण्ड गया। खालों अ
चमड़ों, तिलहन तथा चाय वग़ैरा की निकासी भी वहुत वढ़
कृषि-जन्य पदार्थों की इस भारी निकासी ने भोजन पदार्थों
यहाँ अभाव-सा कर दिया और इसका द्रव्य दुष्परिणाम इन साल
आनेवाले दुर्भिक्षों के समय वहुत बुरी तरह स्पष्ट आने लग
"वहुत छोटे प्रदेश तक सीमित कुछ एक भीषण दुर्भिक्षों
छोड़कर १७७० और १८७८ के बीच में १८ दुर्भिक्ष पड़े, अ
यदि हम इसके पीछे १८८९, १८९२, १८९७ और १९०० में पड़
वाले दुर्भिक्षों को भी शामिल कर लें, तो भारत में अँग्रे
शासन के १३० सालों में दुर्भिक्षों की गणना २२ हो जाती है।"*

भारतीय कृषि का व्यापारीकरण, हिंदुस्तानी उद्योग-धन
की तवाही और देश की कृषि-प्रधानता—ये तीनों वातें एक स

भारतीय किसानों की परतन्त्रता

वढ़ रही थीं। ग्रेट-ब्रिटेन से रूई, जूट अ
तिलहन वग़ैरह कच्चे माल की माँग वरा
वढ़ रही थी। इसका एक परिणाम यह
हुआ कि यातायात के साधनों में व
उन्नति होगई।

भोज्य पदार्थों की जगह रूई, तिलहन आदि अधिक लाभ
चीज़ों की पैदावार ने लेली। इसका प्रभाव सिर्फ खेती पर ही न
किसानों की आर्थिक स्थिति पर भी पड़ा। सदियों से प्रचलित प्र

---

*लार्ड कर्ज़न को लिखी गई रमेशचन्द्र दत्त की खुली चिट्ठी।

पञ्चायतों की आत्म-निर्भरता नष्ट होगई। दलाल, थोक और फुटकर व्यापारी, अनाज के निकासिये, सट्टेबाज़ आदि की एक नयी श्रेणी पैदा होगई। यह श्रेणी किसानों की ग़रीबी और अज्ञानता का लाभ उठाकर उनके व्यापार को नष्टकर अपने आप धनी होगई। इन्हीं दलालों को बहुत सस्ते दामों में अपनी फ़सल बेचने के लिए किसानों को लाचार किया गया। इन दलालों ने कुछ समय में ही साहूकारी का पेशा भी करना शुरू कर दिया, और इस तरह समस्त ग्रामीण भारत इनके आर्थिक पंजे में फँस गया। कृषि के व्यापारीकरण के साथ ही भारत के किसान का भी संसार के पूँजीपतियों से सम्बन्ध स्थापित होगया और संसार में आनेवाली आर्थिक क्रान्तियों का प्रभाव उसपर भी पड़ने लगा।

———

: ५ :

व्यावसायिक विकास का जान-बूझकर विनाश

कम्पनी के हाथ से निकलकर भारतीय प्रदेश के ब्रिटिश-सम्राट् के हाथों में जाने से भी भारत और इंग्लैण्ड के सम्बन्धों में कोई तब्दीली नहीं हुई। इससे हिन्दुस्तान पर इंग्लैण्ड का साम्राज्यवादी शिकञ्जा और भी मजबूत होगया। शोषण के सब पुराने तरीक़े बदस्तूर क़ायम रहे। इनके अलावा ब्रिटिश पूँजीपतियों ने भारी तादाद में यहाँ आकर अपने हितों की रक्षा के लिए भारतीय हितों को कुचल डाला। तट-कर-नीति, मुद्रा-विनिमय-नीति, रेलवे तथा यातायात के दूसरे साधनों का विकास, टैक्स, राष्ट्रीय व्यय, ऋण तथा भारत-सरकार की दूसरी सब आर्थिक नीतियों का सञ्चालन ब्रिटेन के पूँजीपति करने लगे। इसके अलावा भारी-भरकम खर्चीले शासन-प्रबन्ध ने भी इस देश की आर्थिक उन्नति में बड़ी भारी रुकावट डाली।

पुराने घरेलू धन्धों को तबाह करने के बाद ब्रिटिश

साम्राज्यवाद ने भारत की नवीन व्यावसायिक प्रगति को भी निश्चित योजनाओं द्वारा कुचल दिया।

१८५७ के बाद की तटकर-नीति

१८५७ ई० तक भारत की तटकर नीति मुक्त-द्वार की नीति रही। आयात पर बहुत थोड़ी चुंगी—तैयार मालपर ५ फ़ीसदी और कच्चे माल पर ३॥ फ़ीसदी लगाई गई। १८५७ की क्रान्ति के बाद आर्थिक तंगी से लाचार होकर सरकार को १० फ़ीसदी चुंगी लगानी पड़ी, पर यह चुंगी भी घटाकर १८६४ में ७॥ फ़ीसदी और १८७५ में ५ फ़ीसदी करदी गई। लेकिन माञ्चेस्टर के पूँजीपतियों ने यह नाममात्र ड्यूटी भी हटा देने के लिए सरकार पर बहुत ज़ोर डाला और सरकार ने उनकी बात मानकर १८८२ में चुंगी लेना बिलकुल बन्द कर दिया। फिर मुक्तद्वार की नीति चलने लगी। यह नीति १८९४ तक चलती रही, जबकि आर्थिक कठिनाइयों से विवश होकर सरकार ने सब प्रकार के माल पर ५ फ़ीसदी (मूल्य के अनुसार) चुंगी लगादी। इस पर लङ्काशायर वालों ने बड़ा भारी बावेला मचाया और सरकार ने उनकी नाराज़गी से बचने के लिए भारत में बनने-वाले २० या इससे ऊपरी नम्बर के सूती माल पर भी ५ फ़ीसदी एक्साइज़ ड्यूटी लगादी। इससे भी जब ब्रिटिश पूँजीपतियों को सन्तोष नहीं हुआ, तब तटकर घटाकर साढ़े तीन फ़ीसदी कर दिया गया और भारतीय कारख़ानों के सब कपड़ों पर भी

एक्साइज़ ड्यूटी घटाकर इतनी ही करदी गई। पिछले यूरोपियन युद्ध के छिड़ने तक थोड़े से अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी माल पर आयात-कर बहुत ही नाममात्र का रहा। ये आयात कर भी भारतीय व्यवसायों की रक्षा के ख़याल से नहीं, अपितु सरकार की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए लगाये गये थे। दरअसल सरकार ने साढ़े तीन फ़ीसदी की बदनाम एक्साइज़ ड्यूटी लगाकर भारत के उद्योग-धन्धों को बचपन में ही कुचलने की कोशिश की इसकी बड़े ज़ोरों से मुख़ालफ़त की गई, लेकिन बहुत सालों तक कोई नतीजा न निकला। आख़िर बहुत समय के बाद १९२६ में यह ड्यूटी रद की गई।

अस्थायी-उन्नति

इस तटकर-नीति का परिणाम यह हुआ कि युद्ध से पहले तक भारत में उद्योग-धन्धे पनप ही न सके। पश्चिमी भारत में कपड़ा, बंगाल में जूट, बिहार, उड़ीसा व बंगाल में कोयले की खानें—बस ये ही थोड़े से उद्योग-धन्धे थे, जिन्होंने कुछ प्रशंसनीय उन्नति जरूरी की; लेकिन लड़ाई ने एकदम ही स्थिति बदल दी। इंग्लैण्ड के अधिकांश कारख़ाने लड़ाई का सामान तैयार करने में मशगूल होगये। तब भारत को कुछ समय तक विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचने और कुछ आराम से साँस लेने का मौक़ा मिला; लेकिन अब तक सरकार की दिलचस्पी न होने के कारण उद्योग-धन्धों की ओर भारत उदासीन-सा रहा था। सरकार या तो उदासीन रही या

उद्योग-धन्धों की विरोधी रही, इसलिए भारतीय उद्योग-धन्धे इस लड़ाई के मौक़े से भी पूरा लाभ न उठा सके। अँग्रेज़ी माल का मुक़ाबला हटा, तो जापान और अमेरिका भारत के बाज़ारों में घुस आये। इसके बावजूद भी भारत में कल-कारखानों ने इन सालों में काफ़ी तरक़्क़ी की, १८७६ में करघों की संख्या ६,१३६थी, १६१३ में यह संख्या ६४,१३३ हो गई थी, लेकिन १६३२ में यह संख्या बढ़कर १,८६,४०७ होगई थी। १६१३में कपड़े के कारख़ाने १७२ थे, परन्तु इनकी भी संख्या बढ़कर १६३२ में ३४० हो गई। १८६६ में यहाँ के कल-कारख़ाने १० करोड़ २० लाख पौण्ड का कपड़ा तैयार करते थे, १६१४ में २७ करोड़ ४० लाख पौंड का तैयार करने लगे थे १६३१ में यह निकासी बढ़कर ५६ करोड़ पौंड होगई। जूटके कल-कारख़ानों में भी इसी तरह खूब तरक़्क़ी हुई। १८७६-८० में ४,६४६करघे और ७०,८४० तकुए और १६१३-१४ में ३६,०५० करघे व ७,४४,२८६ तकुए काम करते थे, लेकिन १६३०में करघों व तकुओं की संख्याएँ क्रमशः ६१,८३४ और १२,२४,६८२ तक पहुँच गईं। जूटमिलों की संख्या भी(जो १८७६-८० में २२ और १६१३-१४में६४ थी)बढ़कर १६३०-३१ में १०० होगई। १६१४ में भारत २,४०,००० टन कच्चा लोहा, और ७०,००० टन फ़ौलाद तैयार करता था, लेकिन १६३० में वह ११,४०,००० टन कच्चा लोहा और ६,१६,६०० टन फ़ौलाद तैयार करने लगा। १६२०-२१ तक किसी भी साल धातुओं की (मैंगनीज़ को भी मिलाकर कुल निकासी १,२२,००० टन प्रतिवर्ष से नहीं बढ़ी थी,

लेकिन १९२९-३० में यही बढ़कर ८,७१,००० टन हो गई। कोयला, १९१३ में १ करोड़ ६२ लाख टन निकलता था, १९१९ में २ करोड़ २६ लाख और १९२९ में २ करोड़ ३० लाख टन निकलने लगा। चाय की पैदावार और निकासी भी बहुत तेज़ी से बढ़ी। समुद्री रास्तों से भारतीय चाय की निकासी १८९६-९७ में १५ करोड़ पौंड थी, १९१२-१३ में २८ करोड़ २० लाख और १९३१-३२ में ३४ करोड़ १० लाख पौंड होगई। यूरोपीय युद्ध से भारतीय चमड़े के व्यवसाय को भी काफ़ी प्रोत्साहन मिला। १९१३ में १,९४,७६३ हण्डरवेट कमाया हुआ चमड़ा, जिसका दाम १ करोड़ ७५ लाख रुपया था, बाहर गया। १९१७-१८ में ४ करोड़ ८० लाख रुपयों का ३,६१,६७४ हण्डरवेट चमड़ा बाहर, गया। रासायनिक द्रव्य, शीशा, कागज़, जिनिंग, प्रसिंग, तेल, साबुन आदि और भी कई छोटे-छोटे धन्धों ने भी काफ़ी तरक्की की।

लेकिन कल-कारख़ानों की यह तरक्की बहुत समय तक जारी न रही। ब्रिटिश व्यवसायियों से प्रतिस्पर्धा फिर जल्दी ही शुरू होगई। इसके साथ ही दुनिया की आर्थिक मन्दी भी असर डालने लगी। तरक्की बहुत थोड़े दिन रही और भारत में वैसी ही व्यावसायिक क्रान्ति के बुरे परिणाम फिर दीखने लगे, जैसी क्रान्ति १९२१ में आई थी। एक लम्बे अरसे तक कल-कारख़ानों की हालत ख़राब होती गई, यहाँ तक कि बहुत-सी फ़र्मों

संरक्षण-कर

और कम्पनियों का दीवाला निकलने लगा। लड़ाई के बाद यूरोपियन देशों के सिक्कों की क़ीमत जहाँ बहुत गिर गई, वहाँ रुपये की क़ीमत बहुत बढ़ गई थी, इससे यूरोपियन व्यवसायियों को भारतीय बाज़ारों में प्रतिस्पर्धा करने में काफ़ी सहायता मिली। इसलिए अपने कल-कारख़ानों को संरक्षण देने की माँग ने फिर ज़ोर पकड़ा। अब हिन्दुस्तानी उद्योग-धन्धों का प्रभाव भी इतना बढ़ गया था कि वे अपनी माँग ज़ोर के साथ पेश कर सकें। इधर पिछली लड़ाई के भारी ख़र्चों को पूरा करने के लिए सरकार को भी ज़्यादा चुंगी लगाने की ज़रूरत महसूस होने लगी। दरअसल भारत-सरकार तो आमदनी के ख़याल से कुछ पदार्थों पर पहले भी (लड़ाई के वर्षों में) चुंगी बढ़ा चुकी थी। अबतक की सब चुंगियाँ आमदनी के ख़याल से ही लगाई जाती थी, लेकिन अब सरकार को उद्योग-धन्धों की माँग और अपनी कठिनताओं से विवश होकर व्यापारिक संरक्षण-कर भी लगाने पड़े। साधारण चुंगी और सूती कपड़ा, सूत, दियासलाई, चीनी, सिग्रेट आदि ऐश-आराम की चीज़ों की चुंगियों की दर काफ़ी बढ़ा दी गई। किन-किन व्यवसायों को प्रोत्साहन और संरक्षण देना है, इस विषय पर सिफ़ारिशें करने के लिए भारत-सरकार ने टेरिफ़ बोर्ड की नियुक्ति की। सबसे पहले १९२४ में स्टील प्रोटेक्शन एक्ट बनाकर लोहे के धन्धे को संरक्षण दिया गया। सूती कपड़े पर से एक्साइज़ ड्यूटी १९२५ में हटा दी गई और १९३०-३१ में सूती कपड़ों के आयात पर

चुंगी बढ़ाकर ११ से १५ फ़ीसदी कर दी गई। इसके अलावा ग़ैर ब्रटिश माल पर ५ फ़ीसदी संरक्षण कर और भी लगाया गया। १६३१-३२ में सभी प्रकार की आमद पर ५ फ़ीसदी सर चार्ज ड्यूटी और लगादी गई। १६३१ में सप्लीमेण्टरी बजट द्वारा सब आयातकरों पर २५ फ़ीसदी सरचार्ज लगा दिया गया। कपड़ों को भी इस कर से छूट न मिली। जापानी सिक्के येन की क़ीमत बहुत गिर जाने से जापान का माल हिन्दुस्तान में धड़ाधड़ आने लगा, और कुछ ही समय में हिन्दुस्तान के बाज़ार जापानी माल से भर गये। इसे रोकने के लिए १६३२ में ग़ैर-ब्रिटिश कोरे सादे कपड़े पर ५० फ़ीसदी और १६३३ में ७५ फ़ीसदी तक चुङ्गी बढ़ादी गई। चीनी और दियासलाई के धन्धों को भी काफ़ी संरक्षण मिला।

साम्राज्य से रियायत की नीति

ओटावा समझौते ने इम्पीरियल प्रिफरेन्स—साम्राज्य की चीज़ों को तरजीह देने की नीति का सूत्रपात किया। इस समझौते के अनुसार हिन्दुस्तान ने ब्रिटेन की बनी हुई चीज़ों पर १० फ़ीसदी की रियायत दी और इसके बदले हिन्दुस्तान के चाय, जूट, चावल और लाख पर चुङ्गी की छूट उसे मिली। इस समझौते के साथ-साथ हिन्दुस्तान और इङ्गलिस्तान में भी एक समझौता हुआ। उसे ही 'मोदी-लीस पैक्ट' कहा जाता है। इसके अनुसार भारत ने ब्रिटिश सूती माल पर काफ़ी रियायत देने और ब्रिटिश नकली रेशम पर चुंगी काफ़ी कम करने का वचन दिया। इसके

बदले में इंग्लैण्ड ने विदेशी बाज़ारों में भारत को भी वे सब सुविधाएँ देने की प्रतिज्ञा की जो उसे प्राप्त हैं। इन्हीं दिनों जापान और हिन्दुस्तान में भी एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार जापानी माल पर ५० फ़ीसदी से अधिक चुंगी न लगाने का निश्चय हुआ। भारतने जापान से ३२ करोड़ ५० लाख गज़ कपड़ा प्रतिवर्ष मँगाना तय किया और दूसरी ओर जापान ने कम से कम दस लाख रूई की गाँठें भारत से मँगानी मन्जूर की 'मोदी-लीस पैक्ट' और भारत-जापान समझौते को कॉटन टैक्सटाइल एक्ट बनाकर १९३४ में कानूनी शक्ल दे दी गई।

इस तरह हम देखते हैं कि लड़ाई के बाद जो तटकर नीति स्वीकृत की गई उसके दो मुख्य अंग थे — एक तो कुछ प्रमुख धन्धों को एक हद तक संरक्षण देना और दूसरे इम्पीरियल प्रिफ़रेन्स की नीति का अवलम्बन।

नई नीति से हानि

ओटावा-पेक्ट से अँग्रेज़ी माल को रियायत मिलती थी। इसकी और मोदी-लीस समझौते की भारत में खूब तीव्र आलोचना हुई। आलोचना का पहला कारण तो यह था कि अँग्रेज़ी माल को तो बहुत रियायत मिल गई, लेकिन उसके बदले हिन्दुस्तान को कोई ख़ास फ़ायदा नहीं हुआ। चाय पर तो पहले से ही रियायत मिली हुई थी, क्योंकि इससे अँग्रेज़ ग्राहकों और चाय के उत्पादक अँग्रेज़ प्लाण्टरों दोनों को फ़ायदा पहुँचता था, और जूट पर तो भारत का एकाधिकार ही है, उसपर तो रियायत देने का कुछ अर्थ ही नहीं है।

इम्पीरियल प्रिफ़रेन्स में सबसे बुरी बात यह थी कि इसने साम्राज्य से बाहर के देशों के साथ भारत के निर्यात व्यापार को चौपट कर दिया। वही तो भारत के बड़े ग्राहक थे—भारत का माल साम्राज्य देशों की अपेक्षा अधिक माँगते थे। १६३३ में भारत से कुल १४६ करोड़ ३० लाख का माल बाहर गया। इसमें ४६ करोड़ ६० लाख का माल ब्रिटेन ने और ६७ करोड़ ६० लाख का माल साम्राज्य के देशों ने मँगाया, लेकिन साम्राज्य-भिन्न देशों में ७८ करोड़ ७० लाख रुपयों का माल ख़रीदा। इन समझौतों के चालू होने के बाद जो आँकड़े निकले हैं, उनसे पता चलता है कि जिस तेज़ी से ब्रिटिश माल भारत में आ रहा है, उससे कहीं बहुत कम माल इंग्लैण्ड भारत से मँगा रहा है। प्रोफेसर ब्रजनारायण कहते हैं—"हमारे लिए तो यह रियायत बहुत फ़ायदे की तब होती, जब ब्रिटेन के साथ निर्यात व्यापार बढ़ने के साथ-साथ और देशों के साथ का व्यापार भी कम न होता। अब यह रियायत हमारे लिए फ़ायदे की चीज नहीं है, क्योंकि (१) इंग्लैण्ड में हमारे प्रमुख निर्यात्त व्यापार के बहुत बढ़ने की कोई सम्भावना नहीं है और (२) साम्राज्य-भिन्न देशों के साथ निर्यात व्यापार कम हो जायगा, क्योंकि हम उनका माल मँगाना कम कर देंगे।" भारत की निकासी की तिजारत की ख़ास वस्तुएँ हैं—रूई, चाय, जूट (कच्चा व तैयार माल), अनाज। इम्पीरियल प्रिफ़रेन्स पॉलिसी से इनमें से किसीको ख़ास फ़ायदा नहीं होता। इंग्लैण्ड कभी भारतीय रूई को मँगाने में जापान

का मुकाबिला नहीं कर सकता। हमारे दुर्भाग्य से जापानी माल पर भारी चुंगी लग जाने के कारण जापान ने भी पिछले कुछ सालों से हिन्दुस्तानी रूई मँगाना कम कर दिया है और उसकी जगह वह अमेरिकन रूई ज़्यादा मँगाने लगा है। यदि जापान का यही रुख़ कुछ सालों तक और भी रहा और इंग्लैण्ड ने भी भारतीय रूई को ज़्यादा मात्रा में मँगाना शुरू न किया, तो रूई का पैदा करनेवाला हिन्दुस्तानी किसान तबाह हो जायगा। इंग्लैण्ड हिन्दुस्तान का गेहूँ या हमारे अनाज ज्यादा तादाद में मँगाने लगे इसकी भी कोई उम्मीद नहीं है। इन चीज़ों के बड़े गाहक साम्राज्य-भिन्न देश हैं। प्रो० ब्रजनारायण ने ठीक ही लिखा है—"न हमने ऐसे समय इस नीति का अश्रय लिया है, जब दूसरे विदेशों की आवश्यकताएँ और परिस्थितियाँ स्थिर नहीं थीं और जब निकासिये की दृष्टि से हमारी स्थिति पहले से कमज़ोर हो गई। वैज्ञानिक आविष्कारों और आर्थिक प्रगतियों के कारण दूसरे देश अब हमारी ख़ास-ख़ास उपज पर पहले जितने निर्भर नहीं रहे। ३० साल पहले हम ऐसी स्थिति में थे कि हमें कोई चोट नहीं पहुँचा सकता था। अब वह हालत नहीं रही और इसके विपरीत दूसरे देशों में बदला लेकर हमें नुक़सान पहुँचाने की ताक़त बढ़ गई है।"

पिछले सालों के निकास-सम्बन्धी आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि इम्पीरियल प्रिफ़रेन्स से भारत को कोई फ़ायदा नहीं हुआ।

आयात और निर्यात दोनों में कमी हुई है; लेकिन निर्यात में कमी बहुत अधिक हुई है।

१६२४-२५ की तुलना में निर्यात में ६६ फ़ीसदी कमी हुई है, १६३२-३३ में जबकि आयात में सिर्फ़ ४६ फ़ीसदी कमी हुई है; १६३३-३४ में निर्यात ६२, फ़ीसदी घटे; लेकिन आयात में सिर्फ़ ५३ फ़ीसदी कमी हुई। १६३४-३५ में पिछले साल की अपेक्षा ५ करोड़ रुपये के माल की वृद्धि हुई परन्तु आयात में १७ करोड़ से कम वृद्धि नहीं हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि साम्राज्य के साथ किये गये रियायती व्यापार के समझौते का यह असर पड़ता है कि साम्राज्य का भिन्न देशों से व्यापार कम होगया है।

इम्पीरियल प्रिफ़रेन्स की नीति के कारण भारतीय-ग्राहक बाज़ार में वे चीजें भी सस्ती नहीं ख़रीद पाता, जिनका भारत के कारख़ानों से मुक़ाबिला नहीं है। उसे तो साम्राज्य के धन्धों की रक्षा करनी है, इसलिए उसे साम्राज्य की महँगी चीज़ ही ख़रीदनी पड़ेगी।

ब्रिटिश-सरकार की तटकर-नीति को संक्षेप से कहना चाहें तो यों कह सकते हैं। सबसे पहले भारत के घरेलू-धन्धे तबाह कर दिये गये, फिर नये व्यवसायों को पनपने न दिया गया और अन्त में, जब अँग्रेज मिल-मालिकों के लगातार द्वेष और विरोध के बावजूद भी भारत के कल-कारख़ाने तरक़्क़ी कर गये, तब इम्पीरियल प्रिफ़रेंस की नीति लाद दी गई। इसी नीति के

कारण जहाँ भारत के निर्यात-व्यापार को धक्का लगा, वहाँ भारतीयों के रहन-सहन का ख़र्च भी बहुत बढ़ गया।

ब्रिटिश-सरकार की मुद्रा और विनिमय की नीति ने भारत के स्वतन्त्र व्यावसायिक विकास में बड़ी रुकावट पैदा की।

मुद्रा व विनिमय

ब्रिटिश उद्योग-धन्धों और भारत में लगी ब्रिटिश पूँजी के हित के ख़याल से विदेशी-विनिमय को सरकार ने अपने हाथ में लिया। ब्रिटिश-ख़ज़ाने व बड़ी-बड़ी अँग्रेज़ी बैंकों के निरन्तर आग्रह के कारण ही भारत में सोने के सिक्के चलाये जाने से इन्कार किया जाता रहा। भारतीय मुद्रा और विनिमय के लम्बे और पेचीदे इतिहास में हमें जाने की ज़रूरत नहीं है। इतना ही कहना काफ़ी होगा कि मुद्रा और विनिमय की नीति का निर्णय करते हुए हमेशा भारत के व्यापारिक और व्यावसायिक हितों की बुरी तरह उपेक्षा की गई है। सोने का सिक्का चलाने की माँग भारत के सभी कोनों से सभी दलों ने की। कई करेंसी कमीशनों ने भी इस माँग का समर्थन किया, और अनेक अवसरों पर भारत सरकार ने भी इसकी आवश्यकता स्वीकृत की; लेकिन भारत में सोने की मुद्रा जारी नहीं की गई। भारत में स्वर्ण-मुद्रा चालू करने का एक परिणाम यह होता है कि इंग्लैंड से बहुत-सा सोना भारत में खिंच आता। यही भय था, जिससे सोने की मुद्रा यहाँ नहीं चलाई गई। —अस्थायी मुद्रा से होनेवाली सब हानियाँ

भारत को सहनी पड़ीं । इसीके कारण विनिमय-दर में कई दफ़ा उतार-चढ़ाव हुए, व्यापार रुई पर आश्रित होने लगा और इंग्लैंड अपने अमित स्वर्ण-भण्डार द्वारा संसार के मुद्रा बाज़ार में अपनी सर्वोच्चता क़ायम रख सकने में समर्थ हुआ। भारत की मुद्रा-प्रणाली केवल निकम्मी और अस्थिर ही नहीं है, वरन् इसका सारा नियन्त्रण भी सरकारी अधिकारियों के हाथों में है। रुपये की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरता प्राप्त करनेके लिए आन्तरिक स्थिरता का बलिदान कर दिया गया और मज़े की बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरता भी काफ़ी सुरक्षित न रखी जा सकी। अन्य अधिकांश यूरोपियन राष्ट्रों की अपेक्षा भी भारत में सामान्यतया सब क़ीमतें ऊँची रखी गई, और इसका नतीजा भुगतना पड़ा, ग़रीबी से दबे हुए किसानों को ! उनपर रहन-सहन का भार बहुत बढ़ गया। विनिमय-दर को ऐसे ढङ्ग से नियत किया जाता रहा कि जिससे ग्रेट-ब्रिटेन से भारत के लिए सोना न निकल सके और इंग्लैण्ड का माल बड़ी भारी तादाद में भारतीय बाज़ारों में खप सके। एक्सचेञ्ज गोल्ड स्टैण्डर्ड बनानेवाले इसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं, लेकिन अनुभव ने यह बता दिया है कि यह न तो देश की आन्तरिक कीमतों में स्थिरता रख सका है और न विदेशी विनिमय को ही एक-सा स्थिर रख सका है । भारत के व्यापार और धन्धों की दृष्टि से सम्पूर्ण मुद्रा-पद्धति में आमूल-चूल क्रान्ति और तब्दीली की ज़रूरत है

: ६ :

भारत में ब्रिटिश-पूँजी

हम ऊपर कह आये हैं कि पिछली सदी के मध्य में ब्रिटिश-पूँजी धड़ाधड़ भारत में आने लगी, और कुछ समय बाद ही उसने देश के आथिक स्रोतों रेलवे व आर्थिक-नीति पर पूरा कब्ज़ा कर लिया।

सबसे पहले रेलवे में ब्रिटिश-पूँजी लगी। यद्यपि रेलवे से सभी ब्रिटिश कल-कारख़ानों को अपना माल देश के कोने-कोने और गाँव-गाँव तक पहुँचने का लाभ होता था, तथापि रेलवे में पूँजी लगानेवाले ब्रिटेन के लोहे और ख़ासकर इञ्जिनियरिङ्ग के कारख़ानों के मालिक ही थे। कम्पनी के व्यापारिक-काल में जो अतुल-धन वहाँ से ब्रिटेन ले जाया गया था, वही अब पूँजी के रूप में भारत में लगाये जाने के लिए वापस आया।

रेलवे के निर्माण में बहुत फ़जूलखर्ची की गई। सरकार को तो दो-तीन बातों की ही फ़िक्र थी—एक तो यह कि रेलवे में पूँजी लगानेवाले विदेशी पूँजीपति के हितों की रक्षा हो, दूसरे यह कि ग्रेट-ब्रिटेन से आयात-निर्यात में काफ़ी ज्यादा मदद मिले

और तीसरी बात यह कि सामरिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण स्थानों पर उसका दृढ़ अधिकार हो जाय। देश की भावी व्यावसायिक आवश्यकताओं और खानों की उन्नति की बात उसके दिमाग़ में भी नहीं आई। सरकार ने ब्रिटिश-पूँजीपतियों को एक हद तक नफ़े की गारंटी देदी। हानि की चिन्ता से मुक्त होकर अँग्रेज़ पूँजीपतियों ने रेलवे के बनाने में खुले हाथों अनाप-शनाप खर्च किया। १८६८ ई० तक बनी रेलवे पर १८,००० पौण्ड प्रति मील खर्च हुआ था। वाइसराय की कौंसिल के भूतपूर्व अर्थ-सदस्य विलियम मैसे ने १८७२ में एक पार्लिमेंटरी कमेटी के आगे भाषण देते हुए कहा था—"सब पैसा अँग्रेज़ पूँजीपतियों की जेब से निकला है। जब तक उन्हें भारत की सरकारी आय में से ५ फ़ीसदी मुनाफे की गारंटी दी जाती है, उन्हें इस बात की फ़िक्र नहीं होगी कि आया उनका रुपया हुगली नदी में बहा दिया जाता है, या उससे ईंटे और लोहा ख़रीदा जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप खूब फ़ज़ूलखर्चियाँ की गई हैं और मेरा ख़याल है (इस समय हिसाब की किताब मेरे पास नहीं है) कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी रेलवे पर प्रतिमील ३०,००० पौण्ड ख़र्च हुआ है।" सरकारी रेलवे नीति की अलोचना करते हुए भी श्री रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा था—अँग्रेज़ व्यापारियों का भारत-सरकार पर इतना अधिक प्रभाव था कि उसने भारत के राजस्व में से रेलवे बनानेवाली अँग्रेज़ कम्पनियों को मुनाफे की गारंटी देदी। रेलवे पर २२ करोड़ ५० लाख पौण्ड ख़र्च हुआ

है। इसपर मुनाफ़ा न होकर १६०० ई० तक ४ करोड़ पौण्ड का घाटा हो चुका है। जिसका भार हिन्दुस्तान के ग़रीब कर-दाताओं को अपने कन्धों पर उठाना पड़ा। दूसरी ओर हिन्दुस्तानी किसान की फ़िक्र इतनी कम की गई कि १६०० ई० तक सिंचाई पर सिर्फ़ २ करोड़ ५० लाख रुपये ख़र्च किये गये। खेतीवाली २० करोड़ एकड़ भूमि में से सरकारी सिंचाई से कुल २ करोड़ एकड़ भूमि को लाभ होता है।" रेलवे का विस्तार तो ख़ूब तेज़ीसे हुआ, लेकिन इस कृषि-प्रधान देश में, जहाँ सिंचाई की अधिक आवश्यकता और महत्ता है, सिंचाई पर बहुत कम ध्यान दिया गया। १८७८ ई० तक रेलवे पर १७,००,००,००० पौण्ड व्यय हुए, जब कि सिंचाई पर सिर्फ़ १,६०,००,००० पौंड ख़र्च किये गये। १६३०-३१ में खेती वाली कुल भूमि के सिर्फ़ २१.७ फ़ीसदी हिस्से पर ही सिंचाई होती थी।

रेलवे बनने पर तो रुपये का अनाप-शनाप ख़र्च भारत पर बोझ हो ही रहा था। इसके बाद बरसों तक रेलवे में होनेवाले घाटे ने भारतीय कर-दाता को और भी बुरी तरह दबा दिया।

जहाज़ी और जलीय-यातायात में भी ब्रिटिश पूँजी बहुत ज़ोरों से लगी और शीघ्र ही उसने इस दिशा में एकाधिकार कर लिया। भारत के तटवर्ती-व्यापार में भारतीय जहाज़ों का हिस्सा १३ फ़ीसदी और सामुद्रिक-व्यापार में २ फ़ीसदी से अधिक नहीं है।

इसके साथ-साथ ब्रिटिश पूँजी ने बैंकों के कारबार में भी शीघ्र ही एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। देश के आर्थिक विकास और विशेषकर कल-कारखानों को तरक्क़ी पर रुकावट डालने के लिए यह आवश्यक भी था। पिछली लड़ाई छिड़ने के समय तक भारत में अँग्रेज़ी बैंकिंग कम्पनियाँ यह थीं—तीन प्रेज़ीडेन्सी-बैंक, जिन्हें सरकार की पूरी मदद हासिल थी, कुछ एक्सचेंज-बैंक, जिन्हें बाहर काम करने का परवाना मिला था, और कुछ ज्वायण्ट-स्टॉक और कोआपरेटिव-बैंक। १९३१-३२ ई० में २९ अङ्गरेज़ी बैंकिंग कम्पनियाँ भारत में काम करती थीं और इनकी प्राप्त पूँजी (पे-अप केपिटल) ९ करोड़ ९३ लाख पौण्ड थी।

बैंक

भारतीयों के ज्वायण्ट स्टॉक बैंकों का विकास शनैः-शनैः हुआ। १९१४ तक इन बैंकों की पूँजी बहुत थोड़ी थी प्रेज़ीडेन्सी बैंकों की पूँजी से भी दो-तिहाई अर्थात सिर्फ़ ३ करोड़ ७० लाख रुपये थे। १९१२ से १९१६ तक इन बैंकों को कई क्रान्तियों में से गुज़रना पड़ा! लड़ाई के बाद जब व्यापार में कुछ चमक आई, इन बैंकों ने भी उन्नति की। १९२० में इन बैंकों की प्राप्त-पूँजी ८ करोड़ ३७ लाख थी। भारतीय पूँजी की उन्नति को देखकर यहाँ काम करनेवाले विदेशी-बैंक डाह से जलने लगे और उन्होंने सरकार को इस बात के लिए प्रेरित किया कि देश के सारे बैंकों पर एक संस्था—एक केन्द्रीय

वैंक के द्वारा पूरा नियन्त्रण रखा जाय। इस केन्द्रीय-वैंक का नाम इम्पीरियल-वैंक रखा गया। तीनों प्रेजीडेन्सी वैंकों को मिलाकर इस वैंक की स्थापना की गई। इनमें अधिकांश ब्रिटिश पूँजी ही लगी थी, इसलिए इसकी रीति-नीति की लगाम भी उन्हींके हाथ में रही। प्रेज़ीडेन्सी वैंक भारतीय हितों की सदा उपेक्षा किया करते थे, यह सब जानते हैं। १६१२-१६ में अनेक भारतीय-वैंकों के फेल-होने का एक मुख्य कारण यह था कि प्रेज़ीडेन्सी-वैंकों ने उन्हें समय पर सहायता देने से इन्कार कर दिया। इम्पीरियल वैंक ने भी प्रेज़ीडेन्सी-वैंकों की इन सब प्रथाओं और रीतियों को क़ायम रखा। इस वैंक के प्रबन्धकर्ता भी हिन्दुस्तान के व्यापारिक हितों से कोई सहानुभूति नहीं करते। हमेशा ब्रिटिश फ़र्मों और कम्पनियों के साथ वे अनुचित पक्षपात करते हैं।

दूसरे धन्धे

वैंकों के कारोबार पर ब्रिटिश पूँजी का कब्ज़ा होते ही हिन्दुस्तान के बहुत से उद्योग-धन्धों पर भी ब्रिटिश पूँजीपतियों ने काफ़ी अधिकार कर लिया। सूती कपड़ा और लोहा, सिर्फ़ इन दो व्यवसायों में भारतीय पूँजीपति अपना हाथ ऊपर रख सके। शेष सब धन्धे अँग्रेज़ सरमायादारों के हाथ में चले गये।

कपड़े के धन्धे में शुरू से ही भारतीय पूँजी लगती रही है। इसका कारण स्पष्ट था। अँग्रेज़ पूँजीपति इस धन्धे में रुपया

लगाते,तो मान्चेस्टर के मुक़ाबिले में ही एक ताक़त यहाँ भी खड़ी होजाती। अँग्रेज़ पूँजीपति अपने देश के व्यवसाय को कैसे ख़तरे में डाल सकते थे? १६२८ में कपड़ा-व्यवसाय में कुल पूँजी ३६ करोड़ रुपया लगी हुई थी। इसमें विदेशी पूँजी सिर्फ़ २,०३,००० पौण्ड थी। लेकिन इसके विपरीत जूट के कारख़ाने यूरोपियनों ने ही खोले। यह ठीक है कि पिछले सालों में भारतीय पूँजी भी काफ़ी बढ़ गई है, फिर भी आज जूट के धन्धे पर ज्यादातर यूरोपियनों का ही क़ब्ज़ा है। अँग्रेज़ सरमायादारों ने ही बड़ी पूँजी लगाकर नये ढंग से लोहे के धन्धे की शुरूआत की। पिछली सदी के नवें दशक में बंगाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनी बनी। बहुत समय तक इसी कम्पनी की तूती बोलती रही। लेकिन टाटा आयरन एण्ड स्टील वर्क्स ने, जिसकी स्थापना १६०७ में हुई, लोहे के व्यापार में जल्दी ही अपना विशेष स्थान बना लिया। बंगाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनी १६२५ में इसीमें मिल गई। कोयले का धन्धा भी ज्यादातर विदेशी पूँजीपतियों के हाथ में है। चाय तथा क़हवा, रबर आदि सङ्गठित खेतियों की कथा भी यही है। १६३१-३२में हिन्दुस्तान की तिजारत और कल-कारख़ानों में लगी हुई कुल विलायती पूँजी १० अरब ८ करोड़ रुपया थी।

ब्रिटिश सरमाये का एक बड़ा हिस्सा भारत-सरकार के क़र्ज़ के रूप में है। हिन्दुस्तान के कर-दाताओं पर सार्वजनिक ऋण का जो बड़ा भारी बोझ है, वह सरकार के अनाप-शनाप लिये

गये क़र्ज़ों के कारण ही इतना बढ़ा हुआ है। इनमें ज़्यादातर क़र्ज़े अनुत्पादक कामों के लिए लिये गये थे। बहुत से क़र्ज़े तो सिर्फ़ ऐसी लड़ाइयों के लिए लिये गये थे, जो कि न सिर्फ़ ब्रिटेन के स्वार्थों के कारण लड़े गए थे, बल्कि हिन्दुस्तान से बाहर विदेशों में लड़े गए थे, जिनका हिन्दुस्तान से कोई सरोकार न था। नीचे लिखी लड़ाइयों के लिए भारत को कितनी भारी रक़म देनी पड़ी, यह इस तालिका से मालूम हो जायगा :—

विदेशी क़र्ज़

लड़ाई		रक़म
अबीसीनिया (१८५७)	...	६,००,००० पौण्ड
प्राक आक्रमण (१८७५)	...	४१,००० ,,
अफ़गान-युद्ध (दूसरा)	...	१,७०,००,००० ,,
मिश्र के युद्ध (१८८२)	...	१२,००,००० ,,
पश्चिमोत्तरी सीमा पर आक्रमण (१८८२-६१)		१३,००,००० ,,
बरमा-युद्ध (१८८६)	...	४७,००,००० ,,

इन बड़ी-बड़ी रक़मों के सिवाय १६१४-१६१६ के यूरोपियन जंग ने साधारण सैनिक ख़र्चों के अलावा १ अरब ७० करोड़ ७० लाख रुपये का बोझ भारत के सिर पर और लाद दिया।

सरकारी क़र्ज़ों का बड़ा भारी भाग तो हिन्दुस्तान को इङ्गलैण्ड के क़ब्ज़े में करने और रखने के लिये ही लिया गया है। भारी सैनिक ख़र्चों के कारण ही बहुत सालों तक बजट में घाटा रहा है। विनिमय की दर से हुए नुक़सान को पूरा करने के लिए,

दुर्भिक्ष-सहायता के लिए, रेलवे व नहरों के लिए, इण्डिया आफ़िस का भारी ख़र्च निकालने के लिए, भारत से बाहर ब्रिटेन द्वारा अधिकृत कुछ प्रदेशों के शासन-प्रबन्ध के लिए और प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों को क़र्ज़ देने के लिए भी भारत-सरकार ने बहुत दफ़ा ऋण उठाया है। इन सब क़र्ज़ों को मिलाकर भारत-सरकार पर ३१ मार्च १६३४ को कुल १२ अरब १२ करोड़ रुपया क़र्ज़ था, जिसमें से ५ अरब १२ करोड़ रुपया ग्रेटब्रिटेन से क़र्ज़ लिया गया था।

कुल ब्रिटिश पूँजी

१६११ में सर जार्ज पैश ने भारत में लगी कुल ब्रिटिश पूँजी का--चाहे वह सरकार को क़र्ज़ दीगई हो या व्यापार-धन्धे में लगी हो, हिसाब लगाया था। उनके हिसाब से भारत में लगी ब्रिटिश पूँजी ३६ करोड़ ५० लाख पौण्ड थी। लड़ाई के बाद यह पूँजी बहुत ज्यादा बढ़ गई। बम्बई चैम्बर आफ़ कामर्स के भूतपूर्व सैक्रेटरी मिस्टर सेयर ने भारत में लगी ब्रिटिश पूँजी का इस तरह वर्गीकरण किया था—

		स्टर्लिंग
सरकारी स्टर्लिंग क़र्ज़	...	२६ करोड़ १० लाख
गारण्टीवाला रेलवे-क़र्ज़	...	१२ करोड़
५ फ़ी सदी लड़ाई का क़र्ज़	...	१ करोड़ ७० लाख
भारत में रजिस्टर्ड कम्पनियों में लगी पूँजी	...	७ करोड़ ५० लाख

भारत से वाहर रजिस्टर्ड
कम्पनियों में लगी पूँजी .... १० करोड़

५७ करोड़ ३० लाख

मिस्टर सेयर की यह सम्मति थी कि ५७ करोड़ ३० लाख का हिसाब वहुत संकोच के साथ लगाया गया है, दरअसल पूँजी ७० करोड़ के क़रीब होगी। उसने यह भी कहा था —"भारत में लगी हुई हमारी पूँजी के महत्व को वहुत कम विशेषज्ञ समझते हैं। ज़्यादातर लोग इसकी विशालता और क्षेत्र की व्यापकता की कल्पना तक भी नहीं कर सकते। वहुत से व्यापारी, वैंकर और कल-कारखानोंवाले भी यह कल्पना नहीं कर सकते कि हमारी कुल कितनी पूँजी भारत में लगी हुई है और उसके द्वारा कितना काम हो रहा है। वाहर की पूँजी भारत में इतने अधिक तरीक़ों से आती है कि किसी प्रकार की भी गणना करें, उसे अनुमान से अधिक महत्व नहीं दे सकते।" (फ़ाइनैनशल टाइम्स, जनवरी १६३०)

भारत में आज क़रीब १३ अरव रुपये या १ अरव पौण्ड ब्रिटिश पूँजी लगी हुई है। ग्रेटब्रिटेन की कुल ४ अरव पौ० पूँजी विदेशों में लगी हुई है, इसका अर्थ यह हुआ कि संसार में लगी हुई ब्रिटेन की कुल पूँजी का एक चौथाई भाग भारत में लगा है। हिन्दुस्तान इङ्गलैण्ड को ५ फ़ीसदी सालाना व्याज की दर से ६५ करोड़ रुपया हर साल सिर्फ़ सूद देता है। इस भारी रक़म के

अलावा भी बहुत-सी मदों में भारत से हर साल करोड़ों रुपये इङ्गलैण्ड खिंचकर चले जाते हैं। उनमें से कुछ मद ये हैं :— रिटायर्ड इण्डियन सिविल सर्विस के नौकरों की पेंशनें व भत्ते, भारत-सरकार के विदेशों में होनेवाले खर्च, यहाँ व्यापार करने वाली अँग्रेज कम्पनियों की बचत, मुनाफ़ा और कमीशन वग़ैरह।

विदेशों को भारत ने कितनी बड़ी रक़म देनी है, इसका कुछ महत्त्व इसीसे मालूम होगा कि एक हिसाब से हिन्दुस्तान इङ्गलैण्ड व अन्य विदेशों को हरसाल १ अरब ६१ करोड़ रुपये देता है। इस रक़म में कई करोड़ के वे सरकारी खर्चे शामिल नहीं हैं, जो रिटायर्ड सरकारी नौकरों की पेंशनों, भत्तों तथा इङ्गलैण्ड में होनेवाले भारत-सरकार के दूसरे सिविल और फ़ौजी कामों पर खर्च होते हैं। ऊपर लिखी रक़म का हिसाब इस प्रकार है:—

	करोड़ रुपयों में
ब्रिटिश व दूसरे विदेशों की जहाज़ी कम्पनियाँ ...	३५
ब्रिटेन व दूसरे विदेशों के बैंकों के एक्सचेञ्ज आदि कमीशन	२१
कोयला, जूट, चाय या अन्य धन्धों का मुनाफ़ा और इनमें लगे अँग्रेज़ों के वेतन ...	४०
भारत में लगी ब्रिटिश पूँजी पर ५ फ़ीसदी सालाना ब्याज	६५
कुल योग	१६१ *

* सर एम० विश्वेश्वरय्या की "प्लेण्ड इकानामी फ़ॉर इण्डिया"

यदि भारत-सरकार के विदेशों में होनेवाले ख़र्चों को भी इस रक़म में जोड़ दिया जाय, तो भारत से हरसाल खींची जानेवाली सम्पत्ति क़रीव १ अरव ८० करोड़ रुपये होजाती है।

स्वर्णनिर्यात

इतना अधिक आर्थिक शोषण इसीलिए अवतक सम्भव हो सका है कि भारत के निर्यात आयात की अपेक्षा अधिक हैं। हिन्दुस्तानियों को विदेशियों के भारी ख़र्चे अदा करने के लिए लाचार होकर वाहर से आनेवाले माल की वनिस्वत वहुत ज्यादा तादाद में अपने कृषिजन्य पदार्थ विदेशों को भेजने पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हिन्दुस्तान अपने भोजन या कच्चे माल के वहुत वड़े हिस्से से हरसाल वञ्चित कर दिया जाता है। विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी के कारण भारत के निर्यात काफ़ी गिर गये हैं और इसलिये विदेशों का पावना अदा करने के लिए हिन्दुस्तान को हरसाल वहुत भारी तादाद में सोना वाहर भेजने के लिए वाधित होना पड़ा है। १६३१ से वाहर जानेवाले सोने की मात्रा नीचे लिखे आँकड़ों से स्पष्ट हो जायगी—

साल		वाहर जाने वाले सोने का मूल्य
१६३१-३२	....	६०, ७८, २५, १५५
१६३२-३३	...	६६, ८४, ०६, ३४७
१६३३-३४	...	५८, १५, ३०, २४६
१६३४-३५	...	५३, २५, ६८, ७०८
१६३५-३६	...	३८, ३०, ५५, ३६५

जब से इङ्गलैण्ड ने स्वर्णमान छोड़ा है, तब से १९३७ के मार्च के पहले सप्ताह तक हिन्दुस्तान २,६६,३०,७४,३४५ रुपये का सोना विदेशों को भेज चुका है।* प्रो० ब्रजनारायण लिखते हैं—"स्टर्लिङ्ग क़र्ज़ों को छोड़कर भी भारत-सरकार के बाहरी खर्चे और व्यापार की चलतू रक़में प्रतिवर्ष ४ करोड़ ५० लाख पौण्ड से कम नहीं बैठतीं। यदि हिन्दुस्तान के निर्यात आयात की अपेक्षा इस रक़म से अधिक नहीं होते, तो हिन्दुस्तान को सोना बाहर भेजना पड़े या स्टर्लिंग कर्ज़े को बढ़ाना होगा।........ हमें हरसाल बाहर काफ़ी रक़म भेजनी पड़ती है, इसीलिए अपने देश में खपत बढ़ा करके भी हम निर्यात की कमी का सन्तोपजनक इलाज नहीं कर सकते। यदि कुछ पदार्थों की निकासी में कमी होती है, तो हमें किसी दूसरी चीज़ का निर्यात व्यापार बढ़ाना ही पड़ेगा। अगर यह न करें, तो इसका परिणाम होगा दिवालियापन। हम अपनी ज़िम्मेवारियों से इन्कार तो कर नहीं सकते और यह भी नामुमकिन है कि हम क़र्ज़े को चुकाने के लिए हरसाल सोना ही बाहर भेजते रहें।"

भारत-सरकार ने सोने का यह खुला निर्यात दो बातों का ख़याल करके होने दिया—एक तो देश की आर्थिक साख और

---

* २ अप्रैल तक यह रक़म ३,१२,७०,१८,०३६ रु० तक पहुँच चुकी है।

—अनुवादक।

दूसरे एक्सचेञ्ज की दर में स्थिरता। लेकिन बाहर गये हुए सोने के बहुत बड़े हिस्से से हिन्दुस्तान हमेशा के लिए वंचित हो गया। इस बात की सम्भावना बहुत कम है कि सोने की क़ीमत काफ़ी गिर जाय या हिन्दुस्तान का निर्यात व्यापार इतना ज्यादा बढ़ जाय कि वह निकट भविष्य में सोने की बहुत बड़ी राशि वापस मँगा सके। सोने के इस अभूतपूर्व प्रवाह ने भारत की मुद्रा और विनिमय-पद्धति के नये सिरे से सङ्गठन को और भी मुश्किल व पेचीदा बना दिया है।

———

: ७ :

किसानों की समस्या

हम ऊपर देख चुके हैं कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में देश के कई भागों में ज़मीदारी-पद्धति चालू की गई। हिन्दुस्तान में अँग्रेजों ने यह नई प्रथा जारी की थी। सभी ऐतिहासिक इस बात से सहमत हैं कि हिन्दू और मुसलमानों के शासन-काल में भूमि या तो राज की होती थी, या किसानों अथवा पंचायत की। किसान और राज के बीच में मध्यस्थ लोग होते थे, लेकिन ज़मीन पर उनकी कोई मिलकियत न होती थी। उनमें से बहुत से लोग मालगुज़ारी वसूल करते थे, सरकार इस काम के बदले उनके द्वारा इकट्ठी की गई वसूली में से उन्हें फ़ीसदी एक हिस्सा पुरस्कार देती थी।

ज़मींदारी-प्रथा का जन्म

मालगुजारी वसूल करनेवाले सारे मुग़ल साम्राज्य में १७ वीं और १८ वीं सदियों में पाये जाते थे। इतने बड़े देश का

प्रबन्ध करना था और सरकारी मशीनरी इतनी सङ्गठित और मज़बूत थी नहीं, इसलिये इन मालगुज़ारी वसूल करनेवालों की ज़रूरत थी ही। मुग़ल साम्राज्य के पतन और केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों की दुर्बलता के साथ-साथ ये मालगुज़ारी वसूलवाले संख्या और बल में बढ़ गये। ये अपने आप ज़मीन के मालिक बन बैठे। 'अवध की ताल्लुकेदारी' नामक पुस्तक में मि०साइक्स ने बताया है कि अवध के मालगुज़ारों ने (जिन्हें तालुकेदार कहते थे) नीचे लिखे तरीक़ों से अपनी-अपनी जायदादें बढ़ाईं:—

(१) अपने कमज़ोर पड़ोसी की जायदाद पर ज़बरदस्ती क़ब्ज़ा कर लेना।

(२) बहुत क़िस्म की बेईमानियाँ और छल-प्रपञ्च।

(३) अपने नाम ज़बरदस्ती बयनामे।

(४) बक़ाया मालगुज़ारी वसूल करने के लिए ज़बरदस्ती नीलाम कर ख़रीद लेना।

(५) अमानी तरीक़े के मुताबिक़ ठेकेदार या सरकारी आदमी के मालगुज़ारी माँगने पर ज़मीन-मालिकों का उसे चुकाने के लिए ज़मीन बेचना।

(६) इसी तरह के कारणों से रहन की हुई ज़मीनों की बिक्री।

(७) इसी तरह के कुछ और फुटकर तरीक़े।

बहुत कम मालगुज़ार पुराने भूमिपतियों में से थे। १८५८ में लार्ड कैनिंग ने लिखा था—"जब हमने १८५६ में अवध का

शासन अपने हाथ में लिया, तब प्रान्त का ज़्यादातर हिस्सा तालुकेदारों के हाथ में था। उन्हें 'अवध के बरन' कहा जाता था। लेकिन सब तालुकेदारों को अवध के नवाब कहना भ्रान्ति-जनक होगा। कुछ लोगों को अवध-सरकार ने उनकी सेवाओं के बदले या उनपर मेहरबान होकर यह खिताब दिया था; कुछ पुराने ख़ान्दानों के प्रतिनिधि हैं, लेकिन ज़्यादातर इनमें ऐसे हैं, जिनका न कोई ऊँचा ख़ान्दान है और न ज़मीन से कोई ताल्लुक़ रहा है। ये लोग देशी सरकार के मातहत नाज़िम (गवर्नर) या चकलादार (सरकारी टैक्स वसूल करनेवाले) थे अथवा ठेके पर ज़मीन का बहुत हिस्सा बोते या बुवाते थे। देशी सरकार की कमज़ोरी या अपना कर वसूल मिलता देखकर किसानों के प्रति न्याय करने में सरकार की उदासीनता से ये लोग सरकार द्वारा दिये गये हक़ों का नाजायज़ फ़ायदा उठाकर गाँव या बहुत से गाँवों के (जिन्हें तालुका या 'इस्टेट' कहते थे) मालिक बन बैठे। ज़मीन पर क़ब्ज़ा करने के इनके तरीक़े ये थे—बयनामा, कभी जबरदस्ती छीन लेना और कभी धोखा देकर ले लेना।"

जब अँग्रेज़ों ने राजनीतिक लगाम अपने हाथों में ली, तब ज़मीन पर मिलकियत का सवाल बड़े गड़बड़झाले में पड़ा हुआ था। देश के एक बहुत बड़े हिस्से में ज़मीदारों ने किसानों और पंचायतों से ज़मीनें छीन-छीनकर अपने कब्ज़े में करली थीं। सरकार के सामने दो रास्ते थे—एक तो यह कि वह स्थिति को

स्पष्ट करती और पंचायतों व किसानों से मालगुज़ारी का सीधा सम्बन्ध स्थापित करती या पुराने मालगुज़ारों—ज़मींदारों और तालुक़ेदारों को ज़मीन का सच्चा मालिक मानकर उनसे बन्दोबस्त कराती। बङ्गाल, बिहार, युक्तप्रान्त, उत्तरी मद्रास और भारत के कुछ दूसरे हिस्सों में दूसरा रास्ता पकड़ा गया। उन्हींसे समझौता करना आसान भी था, ज़मीन के वे मालिक बन ही चुके थे। फिर पंचायतों के दावे और उनका सङ्गठन पेचीदा भी था। लेकिन ज़मीदारी प्रथा के पक्ष में सबसे ज़्यादा ज़ोर राजनैतिक दृष्टिकोण ने दिया। बड़े-बड़े ज़मीदारों की ऐसी श्रेणी का पालना ज़रूरी समझा गया, जिनकी राजभक्ति पर सरकार हमेशा विश्वास कर सके और जो किसानों के असन्तोष से उसकी भली भाँति रक्षा कर सकें। इस तरह लाखों किसानों को अपनी ज़मीन की मिलकियत के हक़ से महरूम कर दिया गया और थोड़े से मुफ़्तख़ोर मध्यस्थ लोगों को उन ज़मीनों का क़ानूनी तौर पर मालिक मान लिया गया, जिन ज़मीनों को उन्होंने ज़बरदस्ती या बेईमानी से अपने क़ब्ज़े में कर लिया था।

जब सरकार ने अवध के तालुकेदारों की जमीनें कुछ समय के लिए ज़ब्त करली थीं, तब उसका जवाब देते हुए लॉर्ड कैनिङ्ग ने १८५८ में कहा था:—

"गवर्नर जनरल का खयाल है कि नीति के तौर पर तालुक़ेदारी की प्रथा के बजाय ग्राम-पंचायतों की प्रथा को पुनर्जीवित करना लाभकर होगा या नहीं—यह अभी सन्देहास्पद है, लेकिन

इसकी चर्चा की यहाँ ज़रूरत भी नहीं । इन्साफ़ का जहाँ तक ताल्लुक़ है, यह निश्चित है कि तालुक़ेदारों से जो ज़मीनें या गाँव छीने गये हैं, वे उन्होंने भी जबरदस्ती या हिंसात्मक तरीक़ों से छीने थे।........"

ज़मींदारी प्रथा में किसानों की हालतें तो और भी खराब होगईं। ज़मींदारों ने अपने असीमित अधिकारों का बुरी तरह दुरुपयोग किया। ज़मींदार और सच्चे काश्तकार के बीच में किसानों और छोटे किसानों की एक नयी श्रृङ्खला पैदा होगई। पहले से ही दरिद्रताग्रस्त काश्तकार को ये सब (किसान, छोटे किसान व ज़मींदार) मिलकर भरसक लूटने-खसोटने लगे। लगान का भारी तादाद में लिया जाना आम बात होगई। लगान के बक़ाया की वसूली के लिए किसानों की बेदखलियाँ भी रोज़मर्रा की बात होगई। इसके अलावा ज़मींदारों की बहुत-सी ग़ैरक़ानूनी कार्रवाइयों से किसान बुरी तरह दब गये। हालत यहाँ तक ख़राब होगई कि सरकार को भी लाचार होकर ज़मीन के पट्टे की स्थिरता के लिए कुछ क़ानून बनाने पड़े। लेकिन किसान इनसे फ़ायदा नहीं उठा सके, क्योंकि ज़मींदार बड़ी चतुराई से इन क़ानूनों की पकड़ में आने से बच जाते हैं और जब वे क़ानून तोड़ते भी हैं, तो किसान साधनों के अभाव में अदालत तक पहुँच नहीं सकता। इससे ज़मींदारों की निरंकुशता वैसी ही जारी है।

किसानों की दुर्दशा

जमींदारी इलाक़े के किसानों की हालत अब पहले से भी ख़राब होगई है। भारी लगान, बेदख़लियाँ, ग़ैरक़ानूनी वसूलियाँ उसी रफ़्तार से जारी हैं, जबकि पिछले कुछ सालों में कृषिजन्य पदार्थों के दामों में ५० फ़ीसदी गिर जाने के कारण किसानों की आमदनी बहुत ज़्यादा घट गई है। लगान का बक़ाया बढ़ता जारहा है और किसान क़र्ज़ा के गहरे समुद्र में डूबते जारहे हैं।

रैयतवारी इलाक़ों में भी, जहाँ सरकार ने किसानों के साथ सीधा मालगुज़ारी का बन्दोबस्त कर रखा है और ज़मींदारों की बिचौअल नहीं है, किसानों की हालत अच्छी नहीं। क़र्ज़ा के असह्य भार से दबे हुए छोटे-छोटे किसान सरकारी मालगुज़ारी के भारी बोझ से और भी पिसे जारहे हैं। उनकी ज़मीनें लगातार बड़े-बड़े ज़मीदारों या साहूकारों के हाथों में चली जारही हैं। सभी रैयतवारी इलाक़ों में धनी और शक्तिसम्पन्न ज़मींदारों की एक श्रेणी बड़ी तेज़ी से बढ़ रही है। अपने काश्तकारों से ये लोग जितनी वसूलियाँ करते हैं, उनकी तुलना ज़मींदारी इलाक़े के किसानों से की जानेवाली वसूलियों से बड़े मज़े में की जा सकती हैं। रैयतवारी के किसानों का तो टिनैन्सी क़ानून द्वारा भी कोई बचाव नहीं होता।

इस तरह भारतीय किसानों का एक बड़ा भारी भाग अकल्पनीय दरिद्रता से पिसा हुआ है, क़र्ज़े के गढ़े में डूबा हुआ है और ज़मीदारों व सरकारी अमलों के ज़ुल्मों का शिकार बना हुआ है।

घरेलू धन्धों के नाश और उसके बाद होनेवाली बड़े कल-कारख़ानों की थोड़ी बहुत तरक्की से ज़मीन पर गुज़ारा करने वाले लोगों की संख्या बहुत बढ़ गयी है।

ज़मीन पर भार

१८८१ में ५८ फ़ीसदी लोग खेती पर गुज़ारा करते थे। १८६१ में यह संख्या बढ़कर ६१.६, १६०१ में ६६.५ और १६२१ में ७१.६ होगई। सरकारी खेती कमीशन ने १६२७ में हिसाब लगाया था कि ७३.६ फ़ीसदी लोग खेती पर गुज़ारा करते हैं।

ज़मीन पर इस तरह बेहद भार बढ़ने का परिणाम यह हुआ कि ज्यादातर लोगों के पास इतने छोटे-छोटे टुकड़े रह गये कि उनसे फ़ायदे के बदले नुक़सान होने लगा। एक दक्षिणी गाँव की सर्वे करते हुए डा० हैरल्डमैन ने लिखा है—"यह साफ़ है कि पिछले ६०-७० सालों में ज़मीन के टुकड़ों का परिमाण बिलकुल बदल गया है। अँग्रेज़ों से पहले और अँग्रेज़ों के शुरुआत के दिनों में लोगों के पास ज़मीन के काफ़ी बड़े टुकड़े होते थे। ज़्यादातर टुकड़े ६-१० एकड़ से बड़े होते थे। दो एकड़ से छोटे टुकड़े तो शायद किन्हीं शख्सों के पास होते हों। अब टुकड़ों की संख्या क़रीब दुगनी होगई है और इनमें से ८१ फ़ीसदी टुकड़े तो १० एकड़ से छोटे और ६० फ़ीसदी टुकड़े पाँच एकड़ से भी छोटे हैं।" १६२६ के एग्रिकलचर जरनल आफ़ इण्डिया के अनुसार ब्रिटिश भारत के कुल टुकड़ों को इस तरह बाँट जा सकता है:—

एक एकड़ या उससे भी कम	....	२३ फ़ीसदी
१ से ५ एकड़	....	३३ फ़ीसदी
५ से १० एकड़	...	२० फ़ीसदी
१० एकड़ से अधिक	...	२४ फ़ीसदी

एक तो ज़मीन के टुकड़े छोटे हो गये और फिर कृषिजन्य पदार्थों के दाम बहुत कम हो गये। इन दोनों बातों के कारण

किसानों पर क़र्ज़

ज्यादातर किसानों के लिए अपनी सालाना आमदनी में से लगान या मालगुज़ारी देना और अपना रूखा-सूखा गुज़र करना भी नामुमकिन होगया। ज्यादातर ज़मीन के टुकड़ों से इतनी कम आमदनी होती है कि लगान या मालगुज़ारी देने के बाद किसान के पास कुछ नहीं बच रहता। इसलिए किसानों का क़र्ज़ दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा है। १६३० ई० में सैण्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी ने हिसाब लगाया था कि ब्रिटिश भारत के देहातों पर ६ अरब रुपये से कम क़र्ज़ा नहीं है। लेकिन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि किसानों का क़र्ज़ उस दिन से आजतक क़रीब दुगना होगया है और यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि आज देहातों पर १५ अरब से कम क़र्ज़ नहीं है। साधारणतः साहूकार १२ से ७५ फ़ीसदी तक सूद लेते हैं और कहीं-कहीं तो ३०० फ़ीसदी तक सूद के उदाहरण मिलते हैं। इनके अलावा भी साहूकार किसानों की अशिक्षा और अज्ञान का फ़ायदा उठाकर बहुत आपत्तिजनक काम करते हैं। जैसे—

ग़लत दर्ज करना, रजिस्टरों में हिसाब बिगाड़ कर बढ़ा देना, रुपया देने के पहले ही कोरे काग़ज़ पर दस्तख़त करा लेना। हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में क़र्ज़ की अदायगी के सिलसिले में क़र्ज़दार को घरेलू ग़ुलामी करने पर भी विवश किया जाता है। कोआपरेटिव मूवमैण्ट ने तो अभी इस सवाल को ऊपरी तह से भी नहीं छुआ। थोड़े से सम्पन्न किसान ही अब तक इससे कुछ फ़ायदा उठा सके हैं। कुछ प्रान्तों में क़र्ज़ सम्बन्धी जो क़ानून बने हैं, उनसे भी बड़े जमींदारों या सम्पन्न किसानों को ही कुछ फ़ायदा हुआ है। किसान साहूकारों के शिकंजे में जितना ज्यादा आज कसा हुआ है, उतना पहले कभी नहीं कसा गया था।

: ८ :

साम्राज्यवादी नीति के कुछ आर्थिक परिणाम

ऊपर हम साम्राज्यवाद की जिस नीति का ज़िक्र कर आये हैं, उसके जो आर्थिक परिणाम हुए हैं, उनमें से कुछ निम्न-लिखित हैं :—

उपज

अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा भारत में प्रति व्यक्ति उत्पत्ति बहुत कम होती है। १९२१-२२ में खेती या दूसरे धन्धों से भारत की कुल उपज ७१) प्रति व्यक्ति हुई थी। इसी साल इंग्लैण्ड में प्रति व्यक्ति उपज ५३१), अमेरिका में १००३), कनाडा में ८५१) और जापान में २३४) हुई थी।

राष्ट्रीय आय

इसी तरह औसतन प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय भी बहुत कम है। इस विश्वव्यापी आर्थिक सङ्कट से पूर्व विभिन्न देशों में प्रति व्यक्ति आय की तुलना बहुत उपयोगी और शिक्षाप्रद होगी :—

देश		प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)
ब्रिटिश भारत	...	८२
जापान	....	२७१

देश		प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)
फ्रांस	...	६३६
इंग्लैण्ड	....	१०६२
कनाडा	.	१२६८
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	...	२०५३

आज, कृषिजन्य पदार्थों के दामों में भारी गिरावट के बाद तो भारतीय की प्रति व्यक्ति की आय मुश्किल से ५०) रुपये होगी।

अँग्रेज़ों ने भारत में भूमि सम्बन्धी जिस अर्ध सामन्तशाही की स्थापना की है, उसके तथा किसानों की जबरदस्त दरिद्रता के कारण

खेती

किसान बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में रह गया है, वह कोई उन्नति नहीं कर सका। भारत में प्रति एकड़ उपज संसार के दूसरे मुल्कों की बनिस्बत बहुत कम है। १६३१-३२ के नीचे लिखे आँकड़ों से यह साफ़ हो जायगा :—

प्रति एकड़ पैदावार

देश	चावल पौण्ड (आधा सेर)	गेहूँ पौण्ड
इटली	४,६०१	१,२४१
जापान	२,५६७	१,५०८
मिश्र	२,३५६	१,६८८
अमेरिका	२,११२	६७३
इङ्गलैण्ड	...	१,८१२

देश	चावल पौण्ड (आधा सेर)	गेहूँ पौण्ड
जर्मनी	...	१,७४०
भारत	१,३५७	६५२

अधिकांश यूरोपियन देशों की तुलना में भारतीय खेती की उपज ५० फ़ी सदी होती है।

उद्योग-धन्धों में तरक़्क़ी के कारण संसार के सब उन्नत देशों में खेती पर गुज़ारा करनेवाली जनसंख्या पिछले ५० सालों में बहुत कम हो गई है, लेकिन भारत में खेती पर गुज़ारा करने-वालों की तादाद बढ़ गई है। आज प्रति ४ भारतीयों में से ३ खेती पर गुज़ारा करते हैं। विभिन्न देशों में खेती पर गुज़ारा करनेवालों की फ़ीसदी संख्याएँ देखिये :—

इङ्गलैण्ड और वेल्स	७ फ़ीसदी
संयुक्त राष्ट्र अमेरीका	२२ ,,
कनाडा	३१.२ ,,
जर्मनी	३०.३ ,,
फ्रांस	३८.३ ,,
जापान	५०.३ ,,

इन आँकड़ों से दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि भारत में उद्योग-धन्धों की कितनी कम तरक़्क़ी हुई है और दूसरी यह कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने किस ढंग से सारे देश को ग्राम्यप्रधान या कृषिप्रधान बना दिया है।

ज़मीन पर ज़्यादा लोगों के गुज़र करने का एक नतीजा यह

हुआ है कि जमीन इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गई कि उससे फ़ायदा होना बन्द हो गया। सारे भारत में औसतन एक किसान के पास ५ एकड़ से ज्यादा जमीन नहीं है। और किन्हीं सूबों में तो यह औसत २॥ एकड़ से अधिक नहीं है।

हिन्दुस्तानी किसान केवल ग़रीबी से ही कुचला हुआ नहीं है, वह क़र्ज़ में भी सिर तक डूबा हुआ है। आज हिन्दुस्तान के देहातों पर क़रीब १५ अरब रुपया क़र्ज़ा है।

हिन्दुस्तान धन्धों में कितना पिछड़ा हुआ है यह नीचे लिखे आँकड़ों से स्पष्ट होजाता है। १९३० में भारत में कुल ८१४८ कम्पनियाँ काम करती थीं। बड़े कल-कारखानों की सङ्गठित पूँजी ७ अरब रुपये थी, जिसमें हिन्दुस्तानियों की पूँजी ३ अरब से अधिक न थी। इसके मुक़ाबिले में इङ्गलैण्ड में, जिसकी आबादी भारतीय जनसंख्याकी १३ फ़ीसदी है १९२८ में १,०७,५००कल-कारखाने थे,और इनपर लगी पूँजी ७०अरब ६७ करोड़ रुपये—अर्थात् हिन्दुस्तानी पूँजी से २३ गुना—थी। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका की आबादी हिन्दुस्तानी आबादी की क़रीब ३५ फ़ीसदी है, लेकिन वहाँ व्यावसायिक कम्पनियों की संख्या १,७४,१३६ है, और इनमें लगी पूँजी २ खरब ३० अरब रुपये है, अर्थात् हिन्दुस्तानी पूँजी से ७५ गुना।

कल-कारखाने

भारत में बड़े कल-कारखानों में १५ लाख आदमी १९३० में काम करते थे अर्थात् कुल जनसंख्या का १ फ़ीसदी। उक्त वर्ष में

घरेलू, छोटे-बड़े, सङ्गठित, असङ्गठित सभी धन्धों में कुल आबादी के १०.२ फ़ीसदी आदमी काम कर रहे थे, लेकिन इङ्गलैण्ड में ४७.२ फ़ीसदी, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में ३२, जर्मनी में ४१.३, फ्रांस में ३३.३ और जापान में १९.५ फ़ीसदी आदमी धन्धों में लगे हुए थे।

नीचे लिखी तालिका से यह स्पष्ट हो जायगा कि भारत में खेती और धन्धों से होनेवाली प्रति व्यक्ति आय संसार के दूसरे मुल्कों की तुलना में कितनी कम है :—

देश	प्रति व्यक्ति आय	
	धन्धे	खेती
	रुपये	रुपये
भारत	१२	५६
जापान	१५८	५७
स्वीडन	३८४	१२६
इङ्गलैण्ड	४१२	६२
कनाडा	४७०	२१३
अमेरिका	७२१	१७५

वे धन्धे तो हिन्दुस्तान में वहुत थोड़ा पनप पाये हैं, जो उत्पत्ति का साधन पैदा करते हैं। १६३१ में विभिन्न देशों में कोयले की उपज निम्नलिखित थी :—

	(टनों में)
भारत	२ करोड़ २० लाख
इङ्गलैण्ड	२२ करोड़ ३० लाख
जर्मनी	११ करोड़ ६० लाख
फ्रांस	१ करोड़ ५० लाख

और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका—इन तीनों यूरोपियन देशों की सम्मिलित कुल पैदावार से भी ज्यादा—

भारत हरसाल कुल ५ लाख टन फ़ौलाद तैयार करता है और १० लाख टन बाहर से मँगता है, जब कि अमेरिका ने आर्थिक मन्दी के साल १६३० में ७ करोड़ ४० लाख टन लोहा व फ़ौलाद पैदा किया था। आज भी हिन्दुस्तान हर क़िस्म की मशीनरी के लिए दूसरे देशों पर निर्भर है।

हिन्दुस्तान में २ करोड़ ७० लाख हॉर्स पावर विजली निकालने के जलीय साधन मौजूद हैं, लेकिन अभी तक सिर्फ ८ लाख हार्स पावर (अर्थात् सिर्फ ३ फ़ीसदी) की विजली निकाली जाने लगी है। दूसरी तरफ़ अमेरिका में प्राप्त होने वाली कुल शक्ति की ३३ फ़ीसदी, फ्रांस में ३७ फ़ीसदी, जापान

में ३७ फ़ीसदी, जर्मनी में ५५ फ़ीसदी और स्वीट्जरलैण्ड में ७२ फ़ीसदी विजली निकाली जाती है।

हिन्दुस्तान में कुल विजली १.८ विलियन (१ विलियन= १० खरव) किलोवाट आवर (विजली का परिमाण) पैदा होती है। इसके मुक़ाविले में १९३१ में जापान ने १४ विलियन किलोवाट आवर और अमेरिका ने ११५ विलियन किलोवाट आवर पैदा की थी।

भारत किसी भी दूसरी व्यावसायिक दृष्टि से उन्नत-देश की अपेक्षा कम मशीनरी और ज्यादा मानवश्रम का इस्तैमाल करता है, इसलिए उसकी प्रतिव्यक्ति दैनिक उत्पत्ति वहुत ही कम है। भारत में यह उपज ०. ४७ है, जव कि इसकी तुलना में संयुक्त-राष्ट्र अमेरीका में १३. ३८, कनाडा में १३. ०३, ग्रेटब्रिटेन में ६. ६५, जर्मनी में ६. ०४, फ्रांस में ४. ३५ और जापान में १. ७५ है।

हिन्दुस्तान की कुल रेलवे इङ्गलैण्ड की रेलवे से सिर्फ़ दुगनी है, जव कि क्षेत्रफल में हिन्दुस्तान ग्रेटब्रिटेन से २० गुना है। अमेरिका में भारत से ६ गुना लम्बी रेलवे है।

जहाज़ी दृष्टि से भी संसार में हिन्दुस्तान की कोई ताक़त नहीं है। उसका ९९ फ़ीसदी सामुद्रिक-व्यापार ग़ैर हिन्दुस्तानी जहाज़ों के द्वारा होता है।

जब और मुल्कों की तिजारत में तरक्की हुई, हिन्दुस्तान का व्यापार गिर गया। इस सदी के शुरू में भारतीय व्यापार कनाडा के व्यापार से दुगना और जापान के व्यापार से तिगुना था। लेकिन आज, इन दोनों देशों का व्यापार हिन्दुस्तान की तिजारत से बहुत ज्यादा है। भारत का विदेशी व्यापार प्रतिव्यक्ति १८) के क़रीब है, जो शायद दुनिया के किसी मुल्क के व्यापार से भी कम है।

तिजारत

कल-कारख़ानों और तिजारत में जो थोड़ी-सी उन्नति हुई थी, उसका असर देश के बैंकों पर भी पड़ा। १९३० में भारत में कुल ८८० बैंक थे, जिनकी पूँजी २५ करोड़ ४५ लाख और कुल डिपाजिट २ अरब २७ करोड़ ६६ लाख रुपये थे। १९३१ में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में २२,०७१ बैंक थे, जिनकी पूँजी ३५ अरब ४१ करोड़ और डिपाजिट १३७ अरब ८८ करोड़ रुपये थे। १९३२ में ग्रेटब्रिटेन में १२,५५७ बैंक थे, जिनकी पूँजी ३ अरब १६ करोड़ ५० लाख और डिपाजिट ३२ अरब २६ करोड़ ५० लाख रुपये थे। १९३० में जापान में ८,६७६ बैंक थे और उनकी पूँजी ३ अरब ६२ करोड़ थी, जबकि १९२९ में इन बैंकों में कुल १४ अरब ७ करोड़ ५० लाख रुपये जमा थे।

स्टाक
बैंक व कम्पनियाँ

भारतीय ज्वायण्ट स्टाक कम्पनियों में कितनी थोड़ी प्रगति हुई है, यह जानने से भी भारत के व्यापार-व्यवसाय की पिछड़ी हुई हालत स्पष्ट हो जायगी। १९३०-३१ में ब्रिटिश भारत में कुल

६,६७५ ज्वायण्ट स्टाक कम्पनियाँ थीं, जिनकी प्राप्त पूँजी (पेड अप कैपिटल) २ अरब ७१ करोड़ ३० लाख रुपये थी। इसके विपरीत संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में १६२७ में ४,७५,०३१ ज्वायण्ट स्टाक कम्पनियाँ थीं, जिनकी पूँजी २२८ अरब १० करोड़ रुपये थी। ग्रेटब्रिटेन और जापान में क्रमशः ज्वायण्ट स्टाक कम्पनियाँ १,१०,१३६ (१६२६ में), ५७,२२६ (१६३१में) थीं और इन दोनों देशों में प्राप्त पूँजी क्रमशः ४३ अरब ३० करोड़ रु० और १८ अरब ६० करोड़ रुपये थी।

ये आँकड़े यह नतीजा निकालने के लिए काफ़ी हैं कि संसार में प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से सबसे अधिक सम्पन्न भारत को

परिणाम

किस तरह ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने जान-बूझकर व्यावसायिक दृष्टि से पीछे करके भारतीय जनता के शोषण द्वारा अपनी सम्पत्ति,ताक़त और ब्रिटिश शासकों की प्रतिष्ठा को बढ़ा लिया है। यही उसका भारत-विजय का उद्देश्य था,जिसे उसने सफलता से पूरा कर लिया है। इस साम्राज्यवाद ने हिन्दुस्तान को संसार में सबसे अधिक ग़रीब और व्यवसाय व खेती में सबसे ज्यादा पिछड़ा हुआ बना दिया है; उसके आर्थिक प्रकृति साधनों का विकास बहुत कम होने दिया है; उन्हें विदेशी पूँजीपतियों के शिकंजे में जकड़ दिया है; उसके समाज-संगठन में अर्द्ध सामन्तशाही को चालू कर दिया है, और उसकी जनता को अशिक्षित, दरिद्रता-ग्रस्त, बीमार तथा आधा पेट खाकर गुज़र करनेवाला ही नहीं बनाया, उसकी संस्कृति का धरातल भी बहुत नीचे गिरा दिया है।

खण्ड २

: १ :

भारत की आर्थिक स्वतंत्रता

अपनी साम्राज्यवादी नीति को निर्विघ्न जारी रखने के लिए ग्रेटब्रिटेन ने भारत में एक निरंकुश और स्वेच्छाचारी सरकार क़ायम की है। इस सरकार को भारतीय लोकमत की रत्ती-भर भी परवाह नहीं है। इसका तो काम है ब्रिटिश सरकार व ब्रिटिश पूँजीपतियों की आज्ञा को सिर आँखों रखकर पालन करना। खज़ाने पर नियंत्रण ही वास्तविक सच्चा अधिकार होता है, और वही भारत को नहीं दिया गया। ब्रिटिश पार्लमेण्ट या उसके भारत स्थित निरंकुश एजण्टों ने हिन्दुस्तान के रुपये-पैसे ख़र्च करने का अधिकार अपने हाथों में ले रक्खा है। भारत के आय-व्यय पर भारत-सचिव बहुत कठोरता से नियंत्रण करता है। सभी आर्थिक मामलों में वायसराय व गवर्नरों को यह अधिकार है कि वे धारासभाओं के फैसलों को पलट दें। भारत में टैक्स इस तरीक़े से वसूल किये जाते हैं कि उनका देना हिन्दुस्तान की जनता के लिए असह्य होजाता है और दूसरी ओर वह पैसा भारतीय-सेना व देश में शान्ति व्यवस्था क़ायम

रखने आदि अनुत्पादक कार्यों में बहुत बड़ी मात्रा में बेदर्दी से ख़र्च कर दिया जाता है। केन्द्रीय सरकार ने आमदनी के अधिकांश लाभप्रद साधनों पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया है और इसका परिणाम यह हुआ है कि बहुत से सूबों को लगातार घाटा बरदाश्त करना पड़ रहा है।

नये शासनविधान की आर्थिक धारायें भी भारत के आर्थिक जीवन पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का पंजा और भी मज़बूत करने के लिए बनाई गई दीखती हैं। नये विधान ने भारत की धारा-सभाओं पर इतने ज़्यादा बन्धन लगा दिये हैं कि उनके लिए देश के व्यापार-व्यवसाय को सहायता देना भी असम्भव होगया है। भारत में ब्रिटेन के व्यापारिक और व्यावसायिक हितों को इस विधान ने पूर्णतः निश्चिन्त ही नहीं कर दिया, उन्हें असाधारण महत्व और अधिकार भी प्रदान कर दिये हैं। सेना और सरकारी ऊँची नौकरियों पर होनेवाले भारी ख़र्च को धारा-सभाएँ हाथ भी नहीं लगा सकतीं। देश पर राष्ट्रीय ऋण का भारी बोझ वैसे ही पड़ा है। प्रान्तों की आय के साधन इतने थोड़े रह गये हैं कि राष्ट्र-निर्माण का रचनात्मक काम करना उनके लिए असम्भव होगया है। इस पर जिस किसी तरह से हम देखें, इस विधान का उद्देश्य केवल भारत को आर्थिक शिकंजे में जकड़े रहना दीखता है।

भारत में ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति पर विचार करने से तीन बड़े अहम सवाल पैदा होते हैं—

(१) भारत की आर्थिक स्वतंत्रता, (२) राष्ट्रीय आय-व्यय पर जनता का नियंत्रण, और (३) प्रान्तों की आर्थिक स्वाधीनता। हम इस अध्याय में पहले सवाल पर विचार करेंगे और बाक़ी दो सवालों पर अगले अध्यायों में।

आर्थिक स्वाधीनता का अर्थ यह है कि इस स्वाधीनता को भोगनेवाले प्रदेश की आर्थिक नीति पर बाहर का—किसी दूसरे विदेश का कोई नियंत्रण न हो अर्थात् वह देश अपने हितों के अनुकूल दूसरे देशों से तटकर या दूसरी व्यापारिक सन्धियाँ करने तथा अपने देश के व्यापार-व्यवसाय को उन्नत करने के साधनों का प्रयोग करने में पूरी तरह आज़ाद हो। क्या भारत को ऐसी आर्थिक स्वाधीनता मिली हुई है ?

आर्थिक स्वाधीनता की कसौटी

१९१९ के सुधारों के चालू होने से पहले तक भारत-सरकार की आर्थिक नीति को खुल्लमखुल्ला भारतसचिव चलाता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शुरुआत के दिनों में ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने इंग्लैण्ड में लिये गये कम्पनी के क़र्ज़ों पर कुछ पाबन्दियाँ लगाई थीं। कम्पनी के डिविडेण्डों की एक सीमा बाँधदी गई थी और कम्पनी को कहा गया था कि वह अपना हिसाब-किताब ब्रिटिश ख़ज़ाने को पेश किया करे। १७८४ ई० से पार्लमेन्ट ने कम्पनी के लिए 'बोर्ड आफ़ कण्ट्रोल' नियत कर दिया था। यह बोर्ड कम्पनी के सब कामों की निगरानी करता था। इस बोर्ड

माण्टफोर्ड सुधारों से पहले

का प्रेज़िडेण्ट भारतीय मामलों में बहुत दख़ल देता था। बादशाह के हाथ में हिन्दुस्तान के आने के बाद १८५७ ई० में बोर्ड आफ़ कण्ट्रोल के प्रेज़िडेण्ट की जगह भारतमंत्री नियुक्त किया गया। पार्लमेन्ट ने इसे हिन्दुस्तान के सभी आर्थिक मामलों के निरीक्षण, सञ्चालन और नियंत्रण (to superintend, direct and control) का अधिकार दिया। हिन्दुस्तान में वसूल होने वाले सभी राजस्व का मालिक बादशाह था और इसके प्रबन्ध के लिए भारत-मंत्री को पूरी तौरपर ज़िम्मेवार बना दिया गया। मान्टेगू चैम्सफ़ोर्ड सुधारों के शुरू होने तक भारत की अर्थनीति पर भारत-मंत्री का पूरा नियंत्रण रहा। साइमन कमीशन ने इसीका ज़िक्र करते हुए लिखा था—"वह (भारत-मंत्री) समय-समय पर संशोधित 'प्रस्ताव' के रूप में इस आशय की हिदायतें जारी करता रहता था कि सपरिषद् गवर्नर-जनरल अमुक सीमा से ज़्यादा उससे बिना पूछे ख़र्च नहीं कर सकता। और इसका बदला भारत-सरकार प्रान्तों से चुकाती थी। बड़ी मेहनत से कई 'कोड' और नियम बनाकर वह प्रान्तीय सरकारों के ख़र्च पर अपना कठोर नियंत्रण करती थी। प्रान्तों में या केन्द्र में नया टैक्स लगाने के प्रस्तावों पर भारत-मंत्री की मंजूरी लेनी ज़रूरी थी। उसकी सम्मति के बिना सरकार भारत में कोई क़र्ज़ भी नहीं ले सकती थी। १९२० तक केन्द्रीय बजट की भारत-सरकार से सम्बन्ध रखनेवाली रक़में ही नहीं, प्रान्तीय सरकारों से ताल्लुक़ रखनेवाली रक़में भी भारतमंत्री को दिखाये और उससे अनु-

मति लिये विना धारा-सभाओं में पेश नहीं की जा सकती थीं।"
(इण्डियन स्टेचुटरी कमीशन जि० १, पृ० ३६८)

१६१६ के सुधारों ने इस परिस्थिति में कोई विशेष महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन नहीं किया। १६१६ के गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया बिल के विधान-सम्बन्धी प्रस्तावों पर विचार करते समय ज्वायण्ट सिलैक्ट कमेटी इस नतीजे पर पहुँची थी:—

१६१६ के सुधार और आर्थिक स्वाधीनता

"भारत और ग्रेटब्रिटेन के पारस्परिक सम्बन्धों और सद्भावना को इस धारणा से अधिक कोई ख़तरा नहीं पहुँचा सकता कि ग्रेटब्रिटेन के व्यापारिक हितों के लिए भारत की आर्थिक नीति का सञ्चालन व्हाइट-हाल से होता है। इसमें कोई शक नहीं कि यह विश्वास लोगों में विद्यमान है।..........इस सवाल का सन्तोषजनक हल तभी निकल सकता है, जब भारत-सरकार को भारत की आवश्यकताओं के अनुसार तटकर आदि लगाने में पूरी आज़ादी दी जाय। वह (भारत) भी तो ब्रिटिश साम्राज्य का एक पूरा हिस्सा है। भारत-सरकार को आर्थिक स्वाधीनता की गारण्टी देने के लिए आवश्यक है कि हिन्दुस्तान के शासन-प्रबन्ध पर पार्लमेण्ट के निरंकुश नियंत्रण तथा बादशाह के अस्वीकृत करने के अधिकारों को सीमित किया जाय। ब्रिटिश साम्राज्य के और किसी भाग के विधान में पार्लमेंट या बादशाह का इतना नियंत्रण है भी नहीं। इस प्रथा को स्वीकार करके हम आर्थिक स्वाधीनता की गारण्टी का विश्वास भारतियों को

दिला सकते हैं। हिन्दुस्तान के लिए, उसके ग्राहकों और व्यवसायियों की ज़रूरतों के लिए कोई भी आर्थिक नीति ठीक हो, यह स्पष्ट है कि भारत को भी अपने हितों को सोचने की वही आज़ादी होनी चाहिए, जो ग्रेटब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, कैनाडा और दक्षिणी अफ्रीका को प्राप्त है। इसलिए कमेटी की सम्मति में जिस सवाल पर भारत-सरकार व धारासभाएँ एकमत हों, उसपर यथासम्भव भारतमंत्री को हस्ताक्षेप नहीं करना चाहिए। उसे अपना हस्ताक्षेप वहीं तक सीमित रखना चाहिए, जहाँतक साम्राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की ज़िम्मेवारी हो या साम्राज्य के अन्तर्गत कोई ऐसी आर्थिक योजना हो, जिसमें ब्रिटिश-सरकार भी एक पार्टी हो।"

यह समझा गया कि ये सिफ़ारिशें भारत और ग्रेटब्रिटेन के आपसी सम्बन्ध में बहुत बड़ा परिवर्तन कर देंगी। सुधारों के सञ्चालकों ने कहा कि अमली तौर पर सब बातों के लिए भारत को आर्थिक स्वाधीनता देदी गई है और उसे 'फ़िस्कल आटोनोमी कन्वेंशन' की स्थिति देकर सुधारों को दरअसल महत्त्वपूर्ण बना दिया गया है।

भारत-सरकार की ओर से बोलते हुए मार्च १६३० में सर जार्ज रेनी ने 'फ़िस्कल आटोनोमी कनवेंशन' की नीचे लिखी व्याख्या की थी:—

"फ़िस्कल आटोनोमी कनवेंशन" का अर्थ यह है कि धारा-सभाओं में पेश होनेवाले प्रस्तावों पर हमेशा भारतमंत्री से

पहले सलाह ली जाती है, लेकिन आख़िरी फ़ैसला भारत-सरकार के हाथ में है, और किसी के हाथ में नहीं। भारतमंत्री से एक वार सलाहमशविरे की वात छेड़कर इस सम्बन्ध में भारत-सरकार की स्थिति उपनिवेश सरकार से मिलती है, जो धारा-सभाओं में पेश करने से पहले प्रस्तावों पर स्वयं निर्णय करती है। ज्योंही धारासभा किसी फ़ैसले पर पहुँच जाती है, दो में एक वात होती है। जहाँ धारा-सभाएँ और भारत-सरकार एकमत हों, वहाँ उपनिवेश की तरह ही सब कार्रवाई होती है। लेकिन जहाँ दोनों एकमत न हो सकें, दोनों में मतभेद हो। तब वर्तमान विधान के अनुसार भारत में उक्त कनवैंशन काम करना बन्द कर देता है और भारत-सरकार एक वार फिर भारत-मंत्री के मातहत होजाती है। भारत-सरकार और धारा-सभा में मतभेद होते ही, कनवैंशन ख़तम होजाता है।" (लैजिस्लेटिव असेम्बली डिवेटस २७ मार्च १९३७)

इस तरह यहाँ 'फ़िस्कल आटोनोमी' के नाम से जो-कुछ होता है, उसका आधार कोई क़ानून नहीं। उसका आधार १९१९ ई० के गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया एक्ट की ज्वायण्ट सिलैक्ट कमेटी का ऊपर लिखा नोट ही है।

एक प्रथा को पूरा करने के लिए सिर्फ़ एक वार पार्लमेंट ने "फ़िस्कल आटोनोमी कनवैंशन" कह भर दिया है, दरअसल भारतीय हितों को कोई वास्तविक रियायत नहीं दी गई। पहले तो शासनसुधारों ने हिन्दुस्तानी धारा-सभाओं को स्वतंत्ररूप से

देश की आर्थिक नीति बनाने का कोई क़ानूनी अधिकार ही नहीं दिया। दूसरे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के हितों के रक्षक के नाते गवर्नर-जनरल के हाथ में आर्थिक विषयों पर बहुत से निरंकुश अधिकार सौंप दिये गये हैं। और अन्त में भारत की अर्थनीति पर भारत-मंत्री के अधिकारों में सुधारों ने कोई वास्तविक कमी नहीं की। साइमन कमीशन ने लिखा था—"आज भी भारत-मंत्री केन्द्रीय सरकार के आर्थिक प्रबन्ध पर फ़ौज और विदेशों से सम्बन्ध को छोड़कर शासन के अन्य सब मदों की अपेक्षा ज्यादा कठोर नियंत्रण करता है। यद्यपि उसके नियंत्रण को शिथिल करने की प्रवृत्ति रही है, तथापि वस्तुतः पिछले सालों में अनेक अवसरों पर भारत-मंत्री ने किन्हीं आर्थिक सवालों पर इतना ज्यादा दबाव डाला है कि भारत-सरकार की हालत एक छोटी एजेन्सी से ज्यादा ऊँची नहीं रही।" (स्टेच्यूटरी कमीशन रिपोर्ट जि० १, पृ० ३७६)

दरअसल इस कनवेंशन ने हिन्दुस्तान की धारा-सभाओं को आर्थिक प्रश्नों पर थोड़ी भी स्वतंत्रता नहीं दी। कुछ हलक़ों में यह कहा जाता है कि "इस कनवेंशन ने भारत व ग्रेटब्रिटेन के आर्थिक सम्बन्ध पर एक नैतिक प्रभाव डाला है।" अपने इस विचार की पुष्टि में वे हाल के तटकरों तथा कुछ धन्धों को संरक्षण मिलने के उदाहरण भी पेश करते हैं। लेकिन यह भुला दिया जाता है कि भारत-सरकार की आर्थिक आवश्यकताओं से बाधित होकर ही ज्यादातर परिवर्तन करने पड़े हैं। जब कभी

भारत-सरकार का असेम्बली से संघर्ष हुआ है, तभी उसने अपनी बात रखी है। हाल की ही बात है कि इण्डो-ब्रिटिश समझौते पर असेम्बली के अत्यन्त विरुद्ध होते हुए भी सरकार ने समझौते को स्वीकार करके अपनी ही बात रखी। * १९३४ में जापान के साथ व्यापारिक सम्बन्धों के बारे में किये गये समझौते पर लन्दन में ही दस्तख़त हुए थे। यह मान भी लें कि कुछ तटकर लगाये गये हैं, लेकिन बाक़ी सारी आर्थिक नीति तो वैसी की वैसी पड़ी है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उसका तो सञ्चालन खुल्लमखुल्ला ब्रिटिश हितों को देखकर किया जाता रहा है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि चाहे हम १९१९ के गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया एक्ट की धाराओं को देखें या नाममात्र के 'फ़िस्कल आटोनोमी कनवैंशन' के वास्तविक परिणामों पर नजर डालें, हम यही पाते हैं कि भारत को रत्ती-भर भी सच्ची आर्थिक स्वाधीनता नहीं मिली।

नये विधान में

नये शासनविधान में आर्थिक प्रश्नों पर हिन्दुस्तान की क्या स्थिति होगी? व्हाइट पेपर के प्रस्तावों को परखने वाली ज्वायण्ट पार्लमेण्टरी कमेटी की निम्न-लिखित पंक्तियों में इस समस्या की कुञ्जी मौजूद है:—

* अभी नवम्बर १९३७ में ही भारत-सरकार ने देश का तीव्र विरोध होते हुए ही चीनी-समझौता स्वीकार कर लिया है।—अनुवादक.

"यह सब जानते हैं कि पिछले तेरह सालों से युक्तराज्य इंग्लैण्ड और भारत के आर्थिक सम्बन्ध १९१९ के बिल की ज्वायण्ट कमिटी की सिफ़ारिशों से (जो फ़िस्कल कनवेंशन के नाम से प्रसिद्ध हैं) सञ्चालित होते हैं। ......लेकिन इस रिपोर्ट में की गई हमारी सिफ़ारिशों के आधार पर बने शासन-विधान को पास करने से कनवेंशन का यह रूप निश्चित तौर पर टूट जायगा।"

इसी कमेटी ने आगे लिखा था—कुछ लोगों को यह डर है कि कनवेंशन में उल्लिखित अधिकारों का प्रयोग कहीं भारतीय धारा-सभा में इस तरह न करें कि ब्रिटिश माल पर पाबन्दी लग जाय या ऐसी पाबन्दियाँ लगाई जायँ, जिनका उद्देश्य भारतीय धन्धों को सहायता देना न होकर ब्रिटिश व्यापार को नुक्सान पहुँचाना या बन्द करना हो। ......लेकिन यदि ऐसा ही हो तो इसी विधान के मातहत दोनों पेशों के सम्बन्ध के आधारभूत सिद्धान्तों की घोषणा करके उक्त भय दूर कर देना बहुत लाभ-प्रद सिद्ध होगा। गवर्नर-जनरल की ख़ास ज़िम्मेवारियों की मशीनरी, जो हिदायतनामों (Instrument of Instructions) से और भी ताक़तवर बन गई है, भारत और ग्रेटब्रिटेन को ऐसे सिद्धान्तों की घोषणा करने का अवसर देती है। इसके साथ-साथ इन सिद्धान्तों का अर्थ और प्रयोग आवश्यकता के अनुसार थोड़ा बहुत इधर-उधर खींचा जा सकता है।

इसलिए कमेटी ने सिफ़ारिश की थी—"व्हाइट पेपर में

गिनाई गई गवर्नर-जनरल की ख़ास ज़िम्मेवारियों में और भी विशेष ज़िम्मेवारी बढ़ानी चाहिए, जिसका रूप कुछ ऐसा-सा हो—ऐसी किसी भी क़ानूनसम्बन्धी या प्रबन्धसम्बन्धी किसी बात का रोकना, जो इंग्लैण्ड से भारत आनेवाले माल पर कोई भेदभाव करे या उसपर दण्डमूलक पाबन्दी लगावे।········ यह और भी साफ़ कर देना चाहिए कि इन दोनों शब्दों से हमारा मतलब दोनों प्रकार के भेदभावों से है—(१) प्रत्यक्ष भेदभाव (चाहे वह भेदभावमूलक तटकरों द्वारा किया जाय या आयात पर भेदभावमूलक पाबन्दियाँ लगाकर) और (२) माल की विविध श्रेणियों के साथ भेदभावमूलक व्यवहार के द्वारा किया जानेवाला अप्रत्यक्ष भेदभाव। गवर्नर जनरल को यदि यह विश्वास होजाय कि कोई निषेधात्मक तटकर या पाबन्दियाँ इसी उक्त उद्देश्य से लगाई गई हैं, तो उसे अपनी ख़ास ज़िम्मेवारियों का प्रयोग कर इन्हें भी रोक सकने का अधिकार होना चाहिए।"

कमेटी को आगे यह भी डर लगा कि कहीं भारत में ब्रिटेन के व्यापारियों और व्यापारिक हितों के विरुद्ध कोई भेदभाव न किया जाय। इसलिए उसने यह भी सिफ़ारिश की कि इण्डिया एक्ट में ऐसी भी धारायें होनी चाहिएँ, जो धारासभाओं को (१) युनाइटिड किङ्गडम में बसे हुए आदमियों के भारत में प्रवेश करने या उनके "टैक्स लगाने, यात्रा करने, निवास करने, जायदाद का मालिक होने, किसी सरकारी पद पर काम करने

या कोई व्यापार, धन्धा या पेशा करने" (२) यूनाइटेड किङ्गडम में स्थापित कम्पनियों के भारत में व्यापार करने और (३) भारत में ब्रिटिश जहाज़ों के हितों के विरुद्ध कोई भेदभाव करने से रोक सकें।

उपर्युक्त भेदभाव को रोकने के लिए कमेटी ने सिफ़ारिश की कि गवर्नर-जनरल व गवर्नरों को वैसे ही विशेष अधिकार देने चाहिएँ, जैसे तटकरों के बारे में दिये गये हैं। कमेटी ने लिखा—"गवर्नर-जनरल व गवर्नरों का यह फ़र्ज़ होगा कि वे बिलों पर अपनी सम्मति देने या रोकने का अपना अधिकार इस्तेमाल में लावें। और हमारा ख़याल है कि जैसा हम गवर्नर-जनरल के तटकरसम्बन्धी विशेष उत्तरदायित्व के सिलसिले में साफ़ कर चुके हैं, उसी तरह हिदायतनामा इस बात को साफ़ करदे कि गवर्नर जनरल व गवर्नर ऐसे बिलों के बारे में भी सम्मति देने या रोकने का अपना अधिकार अवश्य प्रयुक्त करें। भेदभाव के विधान में जो लक्षण किया गया है, उसके फेर में वे न पड़कर यह देखें कि कोई भी ऐसी बात पास न होने दें, जिसका परिणाम भेदभावमूलक निकलता हो, भले ही उसका बाहरी रूप भेदभावमूलक न हो। हम यह भी सिफ़ारिश करते हैं कि हिदायतनामे के अनुसार गवर्नर जनरल व गवर्नर को यह भी गुंजाइश रहनी चाहिए कि यदि किसी मामले में उसे यह सन्देह हो कि वह प्रश्नविधान के भेदभाव-सम्बन्धी उद्देश्य

के विरुद्ध जाता है या नहीं, तो वह ब्रिटिश सम्राट् की स्वीकृति लेने तक उस बिल को स्थगित कर सके।"

इन सिफ़ारिशों के अनुसार नया विधान शुरू होने के साथ ही आर्थिक स्वाधीनता का कनवेंशन ख़तम होजाता है। नया इण्डिया-एक्ट आर्थिक प्रश्नों पर भारतीय धारा-सभाओं को आज़ादी से कार्रवाई करने पर भी कई क़ानूनी पाबन्दियाँ लगा देता है। ये पाबन्दियां संरक्षण नाम से मशहूर हैं। इन्हें हम दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं। (१) भारत में ब्रिटिश माल के आयात के विरुद्ध भेदभाव को रोकने की धारायें और (२) भारत में ब्रिटेन के व्यापार और तिजारत के विरुद्ध भेदभाव को रोकने की धारायें।

ज्वायण्ट सिलैक्ट कमेटी का विश्वास था कि भेदभाव दो तरह से हो सकता है—शासन-प्रबन्ध द्वारा या क़ानून द्वारा। उसे यह सन्तोष था कि शासनप्रबन्ध में कोई भेदभाव करना अक्रियात्मक और असम्भव है। इसलिए उसमें ऐसी धाराओं की ज़बरदस्त सिफ़ारिश की कि क़ानूनी तौर पर भेदभाव क़तई न किया जा सके। इसके अलावा कमेटी ने सब क़िस्मों के भेदभाव रोकने की शक्ति देने के लिए गवर्नर जनरल व गवर्नरों पर ख़ास ज़िम्मेवारियाँ डाल दीं।

अब हमें नये विधान के भेदभाव-सम्बन्धी ख़ास धाराओं और उनके इस्तेमाल पर विचार करना चाहिए। भारत में

नये विधान की कुछ धारायें

ब्रिटिश माल के आयात पर भेदभाव करने पर गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया एक्ट के १२वें सैक्शन के द्वारा पाबन्दी लगायी गयी है। इस सैक्शन में गवर्नर जनरल की ख़ास ज़िम्मेवारियों का वर्णन किया गया है। इनमें से एक ख़ास ज़िम्मेवारी यह है—"किसी भी ऐसी कार्रवाई को रोकना, जिससे इंग्लैण्ड में बने माल की भारत में आमद पर भेदभाव या दण्डस्वरूप कोई पाबन्दी लगे।" सैक्शन १२ (२) में यह बताया गया है कि इन ख़ास ज़िम्मेवारियों को निभाते हुए गवर्नर जनरल अपनी निजी समझ के अनुसार ही कोई क़दम उठायगा। सैक्शन ६ (३) में कहा गया है कि ख़ास जिम्मेवारियों के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल का फ़ैसला आख़िरी होगा और उसकी किसी कार्रवाई पर "यह पूछा नहीं जा सकेगा कि उसे यह क़दम उठाना नहीं चाहिये था या उसे अपनी निजी राय पर अमल नहीं करना चाहिये था।" गवर्नर-जनरल जहाँ तक अपनी निजी राय से कोई कार्रवाई करता है, वहाँ तक वह सैक्शन १४ (१) के अनुसार ब्रिटिश सरकार के नौकर और ब्रिटिश पार्लमेण्ट के प्रति जिम्मेवार भारतमंत्री के मातहत रहता है। लेकिन उसी सैक्शन में यह भी बताया गया है कि "गवर्नर जनरल की किसी कार्रवाई पर यह सवाल उठाया नहीं जा सकता कि क़ानून की धाराओं की इच्छा के मुताबिक यह काम नहीं हुआ।"

ज्वायण्ट पार्लमेण्टरी कमेटी की सिफ़ारिशों के अनुसार

गवर्नर-जनरल के नाम हिदायतनामे में तटकर-सम्बन्धी ख़ास जिम्मेवारियों की व्याख्या की गई है। इसके अनुसार निम्न-लिखित चार अवस्थाओं में गवर्नर-जनरल को दस्तंदाज़ी करनी चाहिए :—

(१) भेदभावमूलक तटकर या आयात पर भेदभावमूलक पाबन्दियों के द्वारा प्रत्यक्ष भेदभाव।

(२) माल की विभिन्न क़िस्मों पर अलग-अलग तटकर द्वारा अप्रत्यक्ष भेदभाव।

(३) पाबन्दी लगानेवाले तटकर, और

(४) और कोई ऐसा क़दम, जिसका बाह्यरूप भले ही भेद-भावमूलक न हो, लेकिन उसका परिणाम भेदभावमूलक हो।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश माल पर भेद-भाव या पाबन्दी की इतनी विस्तृत और व्यापक व्याख्या की गई है कि भारतीय धारासभा भारतीय धन्धों की उन्नति की दृष्टि से कोई भी तटकर लगाने का प्रस्ताव रखे, गवर्नर-जनरल मजे से उसमें दस्तंदाजी कर सकता है। हिन्दुस्तान ग्रेटब्रिटेन की अपेक्षा अन्य विदेशों को ज्यादा माल भेजता है। लेकिन इस नये विधान के अनुसार आपसी अदल-बदल के सिद्धान्त पर किसी भी साम्राज्य भिन्न देश के साथ सन्धि करना असम्भव हो जायगा, क्योंकि हरएक तटकर में ब्रिटिश माल को काफ़ी बड़ी रियायत मिलनी चाहिए। फिर गवर्नर-जनरल किसी भी देश के साथ की गई अदल-बदल की सन्धि को चालू होने से यह दलील

देकर रोक सकता है कि इस सन्धि से ब्रिटिश माल की आमद पर बुरा असर पड़ सकता है। दरअसल, गवर्नर-जनरल अपनी ख़ास ज़िम्मेवारियों के इस्तेमाल को जायज़ ठहरा सकता है, अगर एक भी ब्रिटिश व्यवसाय यह दिखादे कि भारत की तटकर योजना उसके बरख़िलाफ़ जाती है।

नया शासनविधान इस मामले में निश्चितरूप से पीछे लेजाने वाला है। १९१९ के शासनविधान में आर्थिक स्वाधीनता नाम के लिए तो स्वीकार करली गई थी, लेकिन नये विधान ने तो नई-नई क़ानूनी पाबन्दियाँ लगाकर भारतीय धारासभाओं की वह आज़ादी भी छीनली है। इसलिए भारत को ज़बरदस्ती इम्पीरियल प्रिफ़रेंस अपने सिर पर लादना ही होगा। और हम ऊपर यह दिखा ही चुके हैं कि हिन्दुस्तानी माल की निकासी और हिन्दुस्तानी ग्राहक के ख़याल से इम्पीरियल प्रिफ़रेंस की नीति बहुत ही ख़तरनाक है। दरअसल नया विधान तो इतना ख़राब है कि उसमें हिन्दुस्तानी धन्धों को जो थोड़ा बहुत संरक्षण आज मिला हुआ है, वह भी ख़तरे में पड़ जायगा।

भारत में ब्रिटेन के व्यापारिक हितों की पूरी रक्षा की गारण्टी भी नये एक्ट के सैक्शन १११-११८ द्वारा दीगई है।

हिन्दुस्तान में आने-वाले विदेशियों पर केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें जो भी पाबन्दियाँ लगावेंगी, सैक्शन १११ (ए) के द्वारा वे ब्रिटिश नागरिकों पर नहीं लग सकेंगी। वे खुल्लमखुल्ला

यथेष्ट संख्या में भारत आकर बस सकेंगे। इसी सैक्शन 'बी' उपधारा द्वारा ग्रेटब्रिटेन के ब्रिटिश नागरिकों पर कोई पाबन्दी लगाकर उन्हें किसी लाभ की प्राप्ति, जायदाद की ख़रीद-बिक्री, सरकारी ऊँचे पद पर नौकरी, कोई आजीविका करने, व्यापार या क़ारोबार करने वग़ैरह से वंचित नहीं किया जा सकता। अदले-बदले में समानता दिखाने के लिए यह भी कह दिया गया है कि यदि ब्रिटिश सरकार भारतीयों पर कोई पाबन्दी इंग्लैण्ड में लगावे, तो भारत-सरकार को भी यह हक़ होगा कि वे ब्रिटिश नागरिकों पर भी वे पाबन्दियाँ लगा सके।

आज देश के आर्थिक-जीवन में विदेशियों ने जो ऊँचे-ऊँचे अधिकारपूर्ण पद प्राप्त कर लिये हैं, ऊपरिलिखित ये सब धारायें भारतीय धारासभाओं से उन्हें उन पदों से हटाने का अधिकार भी नहीं देतीं। हिन्दुस्तान में प्रायः सब ऊँची सरकारी नौकरियों और व्यापार करनेवाली ब्रिटिश कम्पनियों में ऊँचे-ऊँचे पदों पर अँग्रेज़ लोगों का ही असली इजारा-सा दीखता है। इनके अलावा ब्रिटिश व्यापारियों, कम्पनियों के एजण्टों और कारोबारियों की भी एक काफ़ी बड़ी तादाद देश में हमारे आर्थिक जीवन पर क़ब्ज़ा किये हुए है। यह ठीक है कि इसके बदले में हिन्दुस्तानियों को भी ब्रिटेन में ये सब काम करने के जो अधिकार मिले हुए हैं, लेकिन दरअसल इसका कोई मतलब नहीं निकलता। ऐसे भारतीयों की संख्या अँगुलियों पर गिनी जा

सकती है, जो इंग्लैण्ड में व्यापार या व्यवसाय में लगे हों, अथवा वहाँ कोई अपना कारोबार चलाते हों। किसी सरकारी पद पर तो एक भी भारतीय नहीं रखा जाता। इसलिए इन सब धाराओं का केवल यही परिणाम होगा कि हिन्दुस्तान अँग्रेज़ लोगों के लिए पैसा कमाने का स्थायी क्षेत्र बना रहेगा।

भारत की केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारें भारत में व्यापार करनेवाली अँग्रेज़ी कम्पनियों पर कोई नियंत्रण नहीं रख सकेंगी। ब्रिटिश क़ानून के अनुसार बनी हुई अँग्रेज़ कम्पनियों, या उनके संचालकों, शेयरहोल्डरों, बाण्डहोल्डरों, अफ़सरों, एजेण्टों और कर्मचारियों पर सैक्शन ११३ के अनुसार हिन्दुस्तान का कम्पनी-क़ानून लागू नहीं हो सकता। भारतीय धारासभायें इस देश में व्यापार करनेवाली अँग्रेज़ कम्पनियों को यहाँ के कम्पनी-क़ानून के अनुसार स्थापित होने के लिए बाधित नहीं कर सकती और न ही उनके रजिस्टर्ड आफ़िस, प्रतिपादित पूँजी की मुद्रा, कम्पनी के संचालकों, कर्मचारियों, एजेण्टों और शेयर-होल्डरों वग़ैरह की राष्ट्रीयता, निवास आदि के सम्बन्ध में कोई पाबन्दी ही लगा सकती हैं। इसी सैक्शन में यह भी लिखा है कि केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारों के नियमों द्वारा भारतीय कम्पनियों को टैक्स से छूट या रियायत आदि जो कुछ मिलेगी, ब्रिटिश कम्पनियाँ भी उसी व्यवहार की हक़दार होंगी। भारत में काम करनेवाली अँग्रेज़ कम्पनियों को जो इतने अधिकार दिये गये हैं, उन्हें यह कहकर अदल-बदल का नाम देदिया गया है

कि ये अधिकार तभी तक रहेंगे, जब तक ब्रिटेन में भारतीयों को भी ये रियायतें दीजाती रहेंगी।

सैक्शन ११२ में बतलाया गया है कि टैक्स लगाने के सम्बन्ध में भारतीय कम्पनियों के साथ एक-सा व्यवहार किया जायगा।

सैक्शन ११६ में एक और महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि व्यापार-व्यवसाय की उन्नति के लिए हिन्दुस्तानी ख़ज़ाने से जो सहायता विविधरूपों में भारतीय कम्पनियों को दी जायगी, भारत में काम करनेवाली अँग्रेज़ कम्पनियाँ भी उस सहायता की हक़दार होंगी। यह रियायत भी अदल-बदल वाली होगी।

हम ऊपर यह कह आये हैं कि ब्रिटिश पूँजी कहाँ तक हिन्दुस्तान के आर्थिक-जीवन में प्रवेश कर चुकी है। १६२२-२३ में कुल ७२० विदेशी कम्पनियाँ भारत में काम कर रही थीं, जिनकी कुल वसूल शुदा पूँजी ४८ करोड़ ७० लाख पौण्ड थी। १६३१-३२ तक इन कम्पनियों की संख्या बढ़कर ६११ और पूँजी ७५ करोड़ ६० लाख पौण्ड या १० अरब ८ करोड़ रुपये होगई। इनमें से मुख्य कम्पनियाँ निम्नलिखित थीं:—

भारत में ब्रिटिश कम्पनियों का प्रभुत्व

	सं०	वसूलशुदा पूँजी (लाख पौण्डों में)
बैंक और क़र्ज़	२६	६६३
बीमा	१४३	८०४
जहाज़ी कम्पनियाँ	१८	४१३

1920

	सं०	वसूलशुदा पूँजी (लाख पौण्डों में)
रेलवे और ट्रामवे	१८	२४८
व्यापार और व्यवसाय	३५६	३०६८
चाय	१८०	२८२
खान तथा पत्थर आदि खोदना (सोने को छोड़कर)	३४	११३४
जूट मिल	५	२८

ये कम्पनियाँ सिर्फ़ नफ़ा या दूसरे पावनों के द्वारा हिन्दुस्तान से हरसाल सिर्फ़ करोड़ों रुपया ही विदेशों में नहीं भेजती, लेकिन वे सारे भारतीय व्यापार व व्यवसाय को विदेशियों के प्रभाव में रखने की भी पूरी कोशिश करती हैं। यह बात सभी जानते हैं कि भारत में काम करनेवाले ब्रिटिश बैंक भारतीय व्यावसायिक या व्यापारिक हितों के साथ पक्षपातपूर्ण विरोधनीति वर्तते हैं। नये भारतीय कारखाने या व्यापारिक कम्पनियाँ आर्थिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण इन सम्पन्न और बलशाली विदेशी कम्पनियों का मुक़ाबिला नहीं कर सकतीं। और इसलिए उन्हें अपनी सत्ता के लिए भी बहुत अधिक निराशापूर्ण संघर्ष करना पड़ता है। यदि हिन्दुस्तानी व्यापार-व्यवसाय ने उन्नत होना है, तो उन्हें विदेशी कम्पनियों के मुक़ाबिले से बचाने के लिए संरक्षण देने की आवश्यकता पड़ेगी ही, लेकिन नये शासनविधान में भारतीय हितों के लिए कोई ख़ास संरक्षण देना भारत के सामर्थ्य से बाहर की बात है।

ब्रिटिश कम्पनियों को हिन्दुस्तान के कम्पनी-क़ानून की धाराओं से बरी रखने का मतलब यह है कि इन कम्पनियों के भारतीय ग्राहक इन कम्पनियों की आर्थिक स्थिति, लेन-देन आदि से बिलकुल अन्धकार में रहें और दीवाला निकलने की हालत में बुरी तरह से नुक़सान उठावें। भारतीय कम्पनियों को इन्कम-टैक्स में अगर कुछ छूट दीगई है, तो ब्रिटिश कम्पनियों को उसका अधिकारी बनाने का मतलब यह है कि विदेशी कम्पनियों के हित के लिए हिन्दुस्तान का ख़ज़ाना नुक़सान बरदाश्त करे। विविध आर्थिक सहायताओं के बारे में भी एक-से व्यवहार का परिणाम यह होगा कि विदेशियों के व्यापार व उद्योग-धन्धों को बढ़ाने के लिए भारतीय कर-दाताओं पर भी मुफ़्त में भार पड़ेगा।

एक्सटर्नल कैपीटल कमेटी ने भारत में बाहर से आये हुए पूँजी-प्रवाह से उत्पन्न समस्या पर विचार किया था और यह सिफ़ारिश की थी कि इसका एकमात्र हल हिन्दुस्तान की पूँजी के साधनों का विकास करना है। लेकिन नये शासन-विधान ने जो आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था की है, उसमें तो यह नामुमकिन हो जायगा। पिछले यूरोपियन युद्ध के बाद हिन्दुस्तान में तटकरों में वृद्धि हुई थी। इसका एक परिणाम यह हुआ कि तटकरों से बचने के लिए विदेशी पूँजीपतियों ने यहीं पूँजी लगाकर कार-ख़ाने बनाने शुरू कर दिये। १६२२-२३ और १६३१-३२ के बीच में विदेशी कम्पनियाँ ५५ फ़ीसदी बढ़ गईं। नये विधान ने विदेशी

कम्पनियों को जो सहूलियतें दी हैं, उनसे तो विदेशी कम्पनियों को हिन्दुस्तान में आने का और भी उत्तेजन मिलेगा।

अदल-बदल का यहाँ भी नाम ले लिया गया है, लेकिन यह बहुत भ्रमपूर्ण है। हिन्दुस्तान का पूँजीपति ग्रेटब्रिटेन में बहुत कम पूँजी लगाता है। ग्रेटब्रिटेन में काम करनेवाली हिन्दुस्तान की कम्पनियों की संख्या बहुत ही थोड़ी है। वह अँगुलियों पर गिनी जा सकती है। इसके सरकारी आँकड़े नहीं मिलते, लेकिन इण्डियन चैम्बर आफ़ कामर्स के अनुसार कुल ४२ भारतीय कम्पनियाँ ग्रेटब्रिटेन में काम कर रही थीं, जिनमें १० कम्पनियाँ निर्यात-आयात का, ५ निर्यात का, ५ पूर्वीय कलासम्बन्धी, ३ रिस्टोरैण्ट, २ चटनी मसाले का, ४ मोती वग़ैरह जवाहरों की दलाली का, १ दरियों का और १ तमाखू के आयात का काम करती थी। भविष्य में ऐसी कोई आशा भी नहीं है कि इन कम्पनियों की संख्या बढ़ेगी, क्योंकि सम्पन्न और सुसङ्गठित ब्रिटिश कम्पनियों से मुक़ाबिला करना बहुत कठिन है। इसलिए अदल-बदल की नीति का लाभ सिर्फ़ एक पार्टी—ग्रेटब्रिटेन को ही मिलेगा और भारतीय व्यापार-व्यवसाय को बहुत बड़ी बाधाओं का सामना करना पड़ेगा और वे भविष्य में उनकी उन्नति पर बहुत बुरा असर डालेंगी।

अदल-बदल का धोखा

सैक्शन ११५ के अनुसार भारत में ब्रिटिश जहाज़ी हितों को बिलकुल सुरक्षित कर दिया गया है। इस धारा के अनुसार

अँग्रेज़ी जहाज़ी कम्पनियाँ

"इंग्लैण्ड में रजिस्टर्ड किसी भी जहाज़, उसके मालिक, अफ़सर, मल्लाह, मुसाफ़िर या माल पर संघीय या प्रान्तीय सरकार का कोई ऐसा क़ानून लागू न हो सकेगा, जो उनके विरुद्ध हो और ब्रिटिश-भारत में बने जहाज़ों के अनुकूल पड़ता हो।" अदल-बदल का रूप यहाँ भी यह कहकर दे दिया है कि ब्रिटेन में भारतीय जहाज़ों पर ऐसा कोई क़ानून लागू न होगा, जो ब्रिटिश जहाज़ों के मुक़ाबिले में उनके विरुद्ध जाता हो।

यह स्पष्ट है कि इस नियम के बाद भारतीय धारा-सभाएँ हिन्दुस्तान के जहाज़-व्यवसाय की कोई ख़ास सहायता नहीं कर सकतीं। मिस्टर एस० एन० हाजी ने १९२८ में भारतीय तट-व्यापार को केवल भारतीय जहाज़ों के लिए सुरक्षित करने के लिए असेम्बली में एक बिल पेश किया था। वैसा बिल पेश करना भी इस नये विधान में ताक़त से बाहर हो जायगा। अदल-बदल का यहाँ भी दरअसल कोई मतलब ही नहीं निकलता। भारत के तट-व्यापार और सामुद्रिक-व्यापार दोनों पर प्राय: ब्रिटिश जहाज़ों का ही एकाधिपत्य-सा है। भारतीय जहाज़ों का हिस्सा तो तट-व्यापार में सिर्फ़ १३ फ़ीसदी और सामुद्रिक व्यापार में सिर्फ़ २ फ़ीसदी है। ग्रेटब्रिटेन के सामुद्रिक-व्यापार में हिन्दुस्तानी जहाज़ों का कोई हिस्सा नहीं है। इसलिए अदल-बदल का सिर्फ़ यही अर्थ है कि हिन्दुस्तान को अपने जहाज़ी

हितों की रक्षा करने की इजाज़त नहीं होगी और भारत के सामुद्रिक व्यापार में अँग्रेज़ी जहाज़ों का प्रभुत्व वैसे ही क़ायम रहेगा।

शासन-क्षेत्र में गवर्नर के अधिकार

जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, गवर्नर-जनरल और गवर्नरों की ख़ास ज़िम्मेवारियों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, क़ानूनी या शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी सभी तरह के भेदभाव को रोकना शामिल है। धारा-सभा-सम्बन्धी मामलों में गवर्नर-जनरल और गवर्नर अपनी समझ के अनुसार ऊपर लिखे विधान की क़ानूनी बातों का मतलब निकालकर यह फ़ैसला करेंगे कि अमुक धारा-सम्बन्धी मामले में उन्हें अपनी ख़ास ज़िम्मेवारी को इस्तेमाल में लाना चाहिए या नहीं। लेकिन शासन-प्रबन्ध के क्षेत्र में तो वे यह सोचने में बिलकुल ख़ुदमुख़्त्यार हैं कि अमुक प्रबन्ध से भेदभाव पैदा होता है या नहीं। फिर भी शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी भेदभाव का क्या अर्थ लगाया जायगा, इसका कुछ पता सर सैमुअल होर की उस गवाही से लग जायगा, जो उन्होंने ६ नवम्बर १९३३ को ज्वायण्ट सिलैक्ट कमेटी के आगे दी थी।

मार्क्विस आफ़ ज़टलैण्ड—मान लीजिये कि एक प्रान्तीय सरकार ने किसी सार्वजनिक कार्य के लिए—सड़क या इमारतें बनाने के लिए टैण्डर माँगे और यह भी मान लीजिये कि गुणों के अनुसार एक ब्रिटिश कम्पनी के टैण्डर सबसे अच्छे हैं, लेकिन प्रान्तीय सरकार उसे स्वीकार नहीं करती और एक विशुद्ध

भारतीय कम्पनी के टैण्डर मंजूर कर लेती है। मेरी सम्मति में यह भी एक प्रकार का भेदभाव ही है, जो पैदा हो सकता है। क्या इन हालतों में गवर्नर का टैण्डरों की परीक्षा करके यह कहना ठीक न होगा कि ब्रिटिश कम्पनी का टैण्डर प्रान्तीय सरकार के लिए सबसे ज्यादा लाभदायक है और इसलिए—सिर्फ़ इसी कारण ब्रिटिश टैण्डर को स्वीकार कर लेना चाहिए?

सर सैमुअल होर—ज़रूर, यदि यह गम्भीर मामला हो।

सर आस्टिन चैम्बरलेन—मानलो कि गवर्नर यह देखता है कि क़ीमत का ख़याल किये बिना ही भारतीय कम्पनी के टैण्डर स्वीकार कर लिये गये। मेरा ख़याल है कि आप यह मानेंगे कि यह भेदभाव है और गवर्नर को दस्तंदाज़ी करनी चाहिए।

सर सैमुअल होर—ज़रूर। इस प्रकार के मामले में गवर्नर जाँच करायगा और जब उसे यह तसल्ली हो जायगी कि भेद-भाव किया गया है, तो वह दस्तंदाजी करेगा।

सर आस्टिन चैम्बरलेन—एक ऐसे मामले की कल्पना करिये कि सरकार खुलेआम टैण्डर नहीं माँगती। दोनों ब्रिटिश व हिन्दुस्तानी कम्पनियों के समर्थ होते हुए भी वह सिर्फ़ भारतीय कम्पनियों से टैण्डर माँग लेती है। क्या ऐसा मामला भी गवर्नर को दस्तंदाजी करने का मौक़ा देता है?

सर सैमुअल होर—मेरे ख़याल में गवर्नर को ऐसे मौक़े पर जाँच करने और यह तसल्ली करने का पूरा हक़ है कि भेदभाव किया गया है या नहीं?

सर आस्टिन चैम्बरलेन—यदि जाँच के बाद वह इस नतीजे पर पहुँचे कि भेदभाव किया गया है, तो क्या उसे ठेके को रद करने का हक़ है ?

सर सैमुअल होर—उसकी शक्ति असीमित है।

सर आस्टिन चैम्बरलेन—क्या वह जाँच होने तक ठेके को स्थगित कर सकता है ?

सर सैमुअल होर—हाँ।

सर सैमुअल होर के उपर्युक्त उत्तरों से इस बात में कोई सन्देह बाक़ी नहीं रहता कि भारतीय व्यापार, व्यवसाय, जहाज़ आदि को संरक्षण और सहायता देने के मामलों में भारतीय मंत्री को नये विधान में कितना थोड़ा अधिकार है। भारत पर ब्रिटिश पूँजी का वर्तमान प्रभुत्त्व वैसे ही क़ायम रहेगा।

: २ :

आमदनी पर जनता का नियंत्रण

किसी भी प्रजातंत्र की सच्ची कसौटी है सरकार की आमदनी और खर्च पर धारा-सभा का नियंत्रण। संसार के सभी प्रजातंत्र देशों में धारा-सभाओं का आर्थिक प्रश्नों पर पूर्ण अधिकार होता है। धारा-सभाओं के जिन अधिकारों की सबसे अधिक फ़िकर की जाती है, उनमें से खज़ाने पर नियंत्रण बहुत मुख्य अधिकार है, लेकिन भारत में स्थिति इससे बिलकुल उलटी है। १६१६ के माण्टेग्यू चैम्सफ़ोर्ड सुधारों के शुरू होने तक शासक (केन्द्र में सपरिषद् गवर्नर-जनरल और प्रान्तों में सपरिषद् गवर्नर) आर्थिक प्रश्नों पर पूरा क़ब्ज़ा रखते थे। नाममात्र की लैजिस्लेटिव कौंसिलों को सरकारी आमदनी और खर्च पर कुछ भी कहने का अधिकार न था।

१६१६ के सुधारों से स्थिति में थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ। केन्द्रीय सरकार में बजट के थोड़े से हिस्से पर धारा-सभाओं का मत लिया जाने लगा। लेकिन कुल खर्च का ८० फ़ीसदी सपरिषद् गवर्नर-जनरल के पूर्ण नियंत्रण में रहा। उस पर धारा-सभाओं का मत लिये जाने की

केन्द्रीय बजट

ज़रूरत नहीं समझी गयी। इस ८० फ़ीसदी रक़म में निम्नलिखित मद शामिल हैं—सेना, राजनीतिक और धार्मिक-विभाग, सरकारी क़र्ज़, भारत-मंत्री द्वारा नियुक्त कर्मचारियों व उनपर निर्भर लोगों की तनख़्वाहें और पेंशनें। लेकिन मत ली जानेवाली रक़मों पर भी धारा-सभाओं का एकाधिकार नहीं है। यदि असेम्बली बजट की किसी माँग को नामंजूर करदे, तो गवर्नर-जनरल को यह कहकर उस रक़म को फिर बहाल करने का हक़ है कि उसकी ख़ास ज़िम्मेवारियों को निभाने के लिए वह माँग बहुत ज़रूरी है। गवर्नर-जनरल ने सुधारों के चालू होने के बाद से बहुत से अवसरों पर अपने इस अधिकार का इस्तेमाल किया है। इस तरह सुधारों ने वस्तुतः धारा-सभाओं के हाथ में कोई वास्तविक अर्थसम्बन्धी अधिकार नहीं सौंपा। बजट के बहुत छोटे से हिस्से पर ही धारा-सभा वोट दे सकती है, लेकिन उस पर भी शासकों की सम्मति के विरुद्ध अपने निर्णय का पालन कराने में असमर्थ है।

प्रान्तों में सुधारों ने दो अमली शासन क़ायम किया था। इस शासन में धारा-सभाओं को राष्ट्र-निर्माण के कुछ कामों पर,

प्रान्तों में

(जिन्हें 'हस्तान्तरित विभाग' या Transferred Departments कहते हैं) अधिक अधिकार दिया गया। इन विभागों में कुछ उल्लेख योग्य ये हैं—सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, सार्वजनिक निर्माण कार्य, खेती, स्थानीय

स्वायत्त शासन, और व्यवसाय। शेष विभागों को सुरक्षित विभाग (Reserved Departments) कहते हैं, क्योंकि इनपर केवल सपरिषद् गवर्नर का अधिकार व नियंत्रण है। इन सुरक्षित विभागों में से ख़ास-ख़ास ये हैं—न्याय, पुलिस, जेल, मालगुज़ारी, प्रबन्ध, सिंचाई, दुर्भिक्ष-सहायता, अख़बारों का नियंत्रण, किताबें, छापेख़ाने और कारख़ानों का निरीक्षण।

प्रान्तीय धारा-सभाओं को सारे बजट पर मत देने का अधिकार दिया गया, लेकिन यदि सुरक्षित विभाग की कोई माँग प्रान्तीय-सरकार अस्वीकृत करदे, तो गवर्नर को यह अधिकार दिया गया कि वह यह घोषणा करदे कि उस विभाग के प्रति उसकी खास ज़िम्मेवारियों को निभाने के लिए वह माँग आवश्यक थी। बस, इसके बाद वह माँग पास और धारा-सभा द्वारा स्वीकृत समझी जाती थी। यदि किसी हस्तान्तरित विभाग की कोई माँग अस्वीकृत करदी जाय, तो गवर्नर उस माँग को सिर्फ़ तभी बहाल कर सकता था, जब वह प्रमाणित करदे कि प्रान्त की रक्षा और शान्ति तथा उस विभाग के ठीक तरह चलने के ख़याल से उसका हस्ताक्षेप ज़रूरी है। इस तरह सभी आर्थिक मामलों में गवर्नर आख़िरी निर्णायक था। उसके आर्थिक अधिकार इतने अधिक व्यापक थे कि वह रक्षित-विभाग की तरह हस्तान्तरित विभागों में भी बड़ी आसानी से दस्तंदाज़ी कर सकता था। साइमन कमीशन ने भी स्वीकार किया था कि

गवर्नर धारा-सभाओं की इच्छा के विरुद्ध अपने अधिकारों का प्रयोग बहुत बार करते रहते थे। साइमन कमीशन ने लिखा था—"रक्षित विभागों की अस्वीकृत माँगों को फिर से बहाल करने के अधिकार का इस्तेमाल गवर्नर प्रायः खूब करते थे।.........१९२४-२५ में बङ्गाल की भाँति मध्यप्रान्त में स्वराज्यपार्टी की भङ्ग करने की नीति के परिणामस्वरूप सारा का सारा बजट ही अस्वीकृत कर दिया था। इसे बहाल कर दिया गया। रक्षित-विभाग के प्रबन्ध के किसी अङ्ग की नीति पर आलोचना करने के लिए सिर्फ़ एक भाग की कटौती की जगह सारी माँग को ही उड़ा देने की प्रथा कई प्रान्तों में प्रचलित थी। ऐसी अस्वीकृत रक़मों की फिर बहाली भी प्रायः होती रहती थी।......हस्तान्तरित विभागों की माँगें कम अस्वीकृत होती थीं। उनमें ज्यादातर बचत के ख़याल से ही कमी होती थी।" हस्तान्तरित विभागों की माँगों के कम रद होने का एक कारण यह था कि वे प्रायः राष्ट्र-निर्माण से सम्बन्ध रखती थीं और इस ओर सरकार कभी भी पर्याप्त ध्यान नहीं देती थी। आर्थिक मामलों में गवर्नरों के हस्तक्षेप का सब जगह प्रायः एक ही उद्देश्य रहता था कि हस्तान्तरित विभागों का बलिदान कर रक्षित-विभागों के लिए पैसा निकालना। दरअसल रक्षित-विभाग कुल प्रान्तीय आमदनी के इतने बड़े भाग पर क़ब्ज़ा कर लेते थे कि राष्ट्र-निर्माण के विभाग सदा अनुन्नत और कङ्गाल रह जाते थे।

इस तरह केन्द्र और प्रान्तों दोनों जगह १६१६ के सुधारों ने धारा-सभाओं को कोई सच्चे आर्थिक अधिकार नहीं दिये।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समर्थक देश के राजस्व पर शासकों के एकाधिपत्य का समर्थन करते हुए कहते हैं कि पार्लमेण्ट के सिर पर भारी ज़िम्मेवारी है। उसे हिन्दुस्तान में रक्षा के काफ़ी साधन रखने हैं, देश की साख भी बचानी है, यह भी देखना है कि ब्रिटिश पूँजीपतियों के हितों को नुक़सान न पहुँचे और भारत-मंत्री द्वारा नियुक्त अफ़सरों की तनख्वाहें, पैंशनें, पारिवारिक पैंशन तथा प्रोविडेण्ट फण्ड की अदायगी की चिन्ता से भी मुक्त रहना है।

नया शासन-विधान इस स्थिति को कहाँ तक बदलता है? १६३५ का गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया एक्ट केन्द्रीय खर्चों को दो श्रेणियों में बाँटता है—(१) संघ की आमदनी के ज़िम्मे लगाया गया खर्च और (२) संघ की आमदनी में से किया जानेवाला प्रस्तावित खर्च। पहले हिस्से पर संघ की धारा-सभा मत नहीं दे सकती। वह खर्च तो संघ सरकार को सबसे पहले करना होगा। इसमें निम्नलिखित खर्च शामिल हैं:— सेना, धार्मिक विभाग, पोलिटिकल डिपार्टमेण्ट, सरकारी-ऋण, पिछड़े हुए प्रदेश, गवर्नर-जनरल, उसके कौंसिलर, परामर्शदाता, मंत्री, एडवोकेट जनरल, चीफ़ कमिश्नर और फ़ैडरल

नया विधान और अर्थ पर लोक-नियंत्रण

कोर्ट के न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते। ये सब खर्च मिलाकर केन्द्रीय-सरकार के कुल ख़र्च का ८० फ़ीसदी भाग होते हैं। सिर्फ़ गवर्नर-जनरल को ही यह फ़ैसला करने का हक़ है कि अमुक प्रस्तावित खर्च किसी ऐसे मद से सम्बन्ध रखते हैं या नहीं, जिस पर मत नहीं लिया जाता। उसका फ़ैसला आख़िरी फ़ैसला होगा।

दूसरी श्रेणी के ख़र्चों पर मत लिया जा सकता है। लेकिन ये ख़र्च कुल केन्द्रीय ख़र्चों के १५ फ़ीसदी से कुछ ही ऊपर हैं। यह ख़र्च भी संघीय-धारा-सभा के पूर्ण नियंत्रण में नहीं है। यदि गवर्नर-जनरल यह समझे कि उसकी ख़ास ज़िम्मेवारियों के निभाने के लिए धारा-सभा द्वारा पूरी या आधी अस्वीकृत कोई माँग ज़रूरी है, तो उसे वह बहाल करने का पूरा हक़ है। ये ख़ास ज़िम्मेवारियाँ इतनी व्यापक और क्षेत्र के सम्बन्ध में इतनी लचकीली हैं कि गवर्नर-जनरल धारा-सभा द्वारा अस्वीकृत या कम की गई हरएक माँग को फिर बहाल कर सकता है। यह भी देखने योग्य बात है कि जहाँ १६१६ के विधान के मातहत धारा-सभा द्वारा अस्वीकृत या कम की गई रक़म को सपरिषद् गवर्नर जनरल बहाल कर सकता था, वहाँ नये विधान में अकेला गवर्नर-जनरल ही अपनी समझ के अनुसार बहाल कर सकता है। इसके अलावा गवर्नर-जनरल की अनुमति लिये बिना टैक्स लगाने, ख़र्च करने और क़र्ज़ लेने के बारे में संघीय-धारा-सभाएँ किसी आर्थिक अधिकार का इस्तेमाल नहीं कर सकतीं।

लेकिन बात यहीं तक ख़तम नहीं होती। भारत में लगी ब्रिटिश-पूँजी को पूरा रक्षण देने के लिए फैडरल रिज़र्व बैंक व रेलवे को संघीय-धारा-सभा के नियंत्रण से बिलकुल स्वतंत्र रखा गया है। गवर्नर-जनरल को यह अधिकार है कि वह अपनी समझ के अनुसार रिज़र्व बैंक के गवर्नर और डिपुटी-गवर्नर को नियुक्त करे या हटाये; डायरेक्टरों के केन्द्रीय बोर्ड को स्थगित करे या उनपर कोई और कारवाई करे या उसका दिवाला तक निकाल दे। "फैडरेशन के लिए सिक्का या नोट अथवा रिज़र्व बैंक के विधान और कार्यक्रम के सम्बन्ध में किसी संशोधन या बिल" के लिए पहले गवर्नर-जनरल की मंजूरी लेना ज़रूरी होगा। इसका परिणाम यह होगा कि बैंकों और कल-कारख़ानों में लगी ब्रिटिश पूँजी के हित के लिए सारे देश की बैंक-संस्थाओं पर नौकरशाही का पूरा क़ब्ज़ा हो जायगा। 'फैडरल अथारिटी' नामक नयी संस्था बनाकर भारतीय रेलवे पर भी, जिनमें ज़्यादातर पूँजी ब्रिटेन की है, ब्रिटिश हितों का प्रभुत्व क़ायम रखने का उपाय कर लिया गया है। रेलवे का नियमन, निर्माण, व्यवस्था और प्रबन्ध सब काम इसी नयी संस्था द्वारा होंगे। गवर्नर-जनरल को सात सदस्यों में से तीन तो स्वयं नियुक्त करने होंगे। वह प्रधान समेत सातों सदस्यों को भी नियुक्त कर सकता है। यह रेलवे अथारिटी पूरे तौर पर गवर्नर-जनरल के ही प्रति जिम्मेवार है, संघ की धारा-

रेलवे व रिज़र्व बैंक

सभा के प्रति नहीं। उसका इसपर कोई नियंत्रण न होगा। इसका मतलब यह है कि रेलवे आगे भी ब्रिटिश पूँजीपतियों और ब्रिटिश व्यवसायों को फ़ायदा पहुँचाने का प्रधान साधन बनी रहेगी। रेलवे की दरें भी इस प्रकार रखी जाती रहेंगी कि ब्रिटिश माल बाज़ार में आकर सस्ता बिक सके। भारतीय संघ-विधान की धारा-सभा को यह हक़ भी न होगा कि वह भारतीय माल की खपत के लिए कोई ख़ास रियायत कर सके। लोकोमोटिव इंजिन, डब्बे या रेलवे का अन्य लोहा फ़ौलाद का सामान आदि तैयार करने, एक और बड़ा धन्धा हिन्दुस्तान में चलाना भी नामुमकिन हो जायगा।

सिविल सर्विस

इम्पीरियल सर्विस के अफ़सरों को भारी-भारी तनख्वाहों व भत्तों को भी भारतीय धारा-सभा के नियंत्रण से बाहर रखा गया है। भारत-मंत्री पहले की भाँति अब भी इम्पीरियल सर्विस की नियुक्तियाँ करेगा। इस सर्विस के आदमियों को किसी भी मिनिस्टर के ऐसे हुक्म के विरुद्ध भारत-मंत्री से अपील करने का हक़ होगा, जो (१) इम्पीरियल सर्विस के किसी अफ़सर को सज़ा दे, या उसकी मलामत करे, और (२) उसके नौकरी-सम्बन्धी उप-नियम को इस तरह बदले कि उससे नौकर को नुक़सान पहुँचता हो या मियाद ख़तम होने से पहले ही उसकी नौकरी ख़तम होती हो।

प्रान्तों में नये शासन-विधान ने दोअमली को तो ख़तम कर दिया है, लेकिन गवर्नर को भी वे सब अधिकार दे दिये गये हैं, जो केन्द्र में गवर्नर-जनरल को दिये गये हैं। प्रान्तीय सरकारों के ख़र्च को भी दो श्रेणियों में बाँटा गया है—(१) प्रान्त की आमदनी पर किया जानेवाला ख़र्च और (२) प्रान्त की आमदनी में से प्रस्तावित ख़र्च। पहले पर प्रान्तीय धारा-सभाएँ मत नहीं दे सकतीं। इस श्रेणी में ये रक़में शामिल हैं—गवर्नर का वेतन और भत्ते, उसके दफ़्तर के ख़र्च, प्रान्तीय सरकार द्वारा चुकाये जाने वाले क़र्ज़, मिनिस्टरों, एडवोकेट जनरल, हाईकोर्ट के जज आदि के वेतन व भत्ते और पिछड़े प्रदेशों के ख़र्च। बाक़ी सारे प्रान्तीय ख़र्चों पर वोट दिया जा सकता है, लेकिन गवर्नर की सिफ़ारिश के बिना कोई माँग असेम्बली में पेश नहीं की जा सकती। वायसराय की तरह गवर्नर पर भी ख़ास ज़िम्मेवारियाँ डाली गई हैं और इसके लिए किसी अस्वीकृत या कम की माँग को बहाल करने का हक़ दिया गया है। गवर्नर को भी इन ज़िम्मेवारियों के नाम से इतने अधिक व्यापक, निरंकुश और विस्तृत अधिकार दिये गये हैं कि ज़रूरत पड़ने पर गवर्नर प्रान्तीय धारा-सभा द्वारा अस्वीकृत एक-एक रक़म को फिर बहाल कर सकता है।

प्रान्तीय बजट और गवर्नर

इस तरह हमने देखा कि नया शासन-विधान केन्द्र में या

प्रान्तों में कहीं भी धारा-सभाओं के आर्थिक अधिकारों में कोई परिवर्तन नहीं लाता। और यदि कोई तबदीली हुई भी है, तो वायसराय और गवर्नरों की ख़ास ज़िम्मेवारियों को और अधिक व्यापक व स्पष्ट करके हालत को ज़्यादा ही ख़राब किया गया है। पहले की भाँति अब भी सब आर्थिक प्रश्न शासकों के हाथ में ही रहेंगे और संघ व प्रान्तीय-स्वराज्य एक दिखावामात्र रह जावेंगे।

————

: ४ :

प्रान्तों की आर्थिक स्वाधीनता

देश की समस्त आमदनी को केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों में बाँटना कम महत्त्व का सवाल नहीं है। संसार के प्रायः सभी देशों में शिक्षा, स्वास्थ्य, सफ़ाई और व्यवसाय आदि राष्ट्र-निर्माणकारी कार्य स्थानीय या प्रान्तीय सरकारों को सौंपे जाते हैं और सेना, परराष्ट्र-सम्बन्ध, मुद्रा, विनिमय तथा तटकर आदि देशव्यापी हितों की देख-भाल केन्द्रीय सरकार करती है। यदि राष्ट्र-निर्माण का कार्य सुचारु रूप से करना हो, तो केन्द्रीय सरकार का आवश्यक कर्तव्य है कि वह प्रान्तीय सरकारों को आमदनी के काफ़ी ज़रिये दे। लेकिन इसके विपरीत यदि केन्द्रीय सरकार सेना आदि अपने आधीन कार्यों के लिए कुल आमदनी के बहुत बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लेती है, तो राष्ट्र-निर्माण के कामों को ज़रूरी तौर पर नुक़सान पहुँचेगा। इसलिए सभी उन्नत-देशों में सरकारें स्थानीय या प्रान्तीय सरकारों को आमदनी के काफ़ी ज़रिये देती हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में हालत उलटी है। राष्ट्र-निर्माण के सब काम प्रान्तों को सौंपे हुए हैं। परन्तु केन्द्रीय सरकार ने कुल आमदनी के इतने बड़े हिस्से पर

क़ब्ज़ा कर लिया है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, खेती और व्यवसाय के लिए बहुत थोड़ी नगण्य रक़म बच जाती है। भारतीय सेना पर जो ख़र्च होता है, वह बहुत भारी है। इसके अलावा केन्द्र और प्रान्त दोनों में शासन प्रबन्ध की पद्धति बहुत ज़्यादा ख़र्चीली रखी गई है। फ़ौज और मुल्की इन्तज़ाम जिसमें क़ानून और अमन की व्यवस्था भी शामिल है, मिलकर कुल सरकारी ख़र्चों के ८० फ़ीसदी पर क़ब्ज़ा कर लेते हैं।

नये विधान के समर्थक कहते हैं कि प्रान्तों को आर्थिक स्वाधीनता देकर एक बहुत बड़ा क़दम उठाया गया है। इससे राष्ट्र-निर्माण के सब काम भी ज़ोरों के साथ किये जा सकेंगे। यह भी कहा जाता है कि अबसे प्रान्तीय सरकारों के काम में केन्द्रीय सरकार कोई दस्तंदाज़ी नहीं करेगी और प्रान्तीय सरकारें अपनी आमदनी को अपनी इच्छानुसार ख़र्च करने में पूरी आज़ाद होंगी। लेकिन ऐसी आज़ादी तबतक कोई क़ीमत नहीं रखती, जब तक प्रान्तों को राष्ट्र-निर्माण का ठोस काम करने के लिए आमदनी के काफ़ी ज़रिये भी न दिये जावें। लेकिन जैसा कि हम नीचे देखेंगे, सेना और केन्द्र व प्रान्तों के बहुत ज़रूरी कहे जानेवाले मदों पर इतना बेक़ायदे और भारी ख़र्च के कारण पहले भी प्रान्तों के राष्ट्र-निर्माणकारी काम पैसे के अभाव से कुछ उन्नति नहीं कर सके और आगे नये विधान की आर्थिक व्यवस्था में भी कुछ उन्नति न कर सकेंगे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शुरुआत के दिनों में कम्पनी के विभिन्न इलाके दरअसल आर्थिक मामलों में आज़ाद थे। किसी प्रभावशाली केन्द्रीय सरकार के अभाव तथा यातायात के साधनों की कठिनता के कारण केन्द्रीय नियंत्रण और आमदनी व ख़र्च में समन्वय बहुत कठिन था। १७७३ ई० का

प्रान्तों की आर्थिक स्थिति का विकास

रैगुलेशन एक्ट देशकी आर्थिक पद्धति में पूर्णरूप से केन्द्रीकरण प्रचलित करके इस स्थितिमें काफ़ी तब्दीली करने के लिए बनाया गया था। स्थानीय अधिकारी केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि होकर ही सब वसूलियाँ करने लगे। उसके पूछे बिना कोई भी ख़र्च नहीं होता था। लेकिन केन्द्रीय सरकार इतनी मज़बूत न थी कि प्रान्तीय सरकारों पर आर्थिक मामलों में वह प्रभावशाली नियंत्रण रख सके, इसलिए यह स्कीम चल न सकी। इसके सिवाय, इस स्कीम का एक और दुष्परिणाम यह हुआ कि प्रान्तीय सरकारों में उत्तरदायित्व की भावना नष्ट होगई। वह वसूली में बेपरवाही और ख़र्च में फ़ज़ूलख़र्ची करने लगी। सर जॉन स्ट्रैचो इस परिणाम पर पहुँचे थे—"सार्वजनिक आय को इस तरह बाँटा गया कि सब जगह अव्यवस्था फैल गई। उचित अनुचित का ख़याल नहीं किया जाता था। जो ज्यादा ताक़तवर होता था, वह ज्यादा छीन लेता था। एक स्थान पर बचत करने से उस स्थान को कोई लाभ न होता था, इसलिए फ़जूलख़र्ची को रोकने की ओर किसी का ध्यान न गया। इसी तरह एक जगह आमदनी

में तरक़्क़ी का लाभ उस स्थान को न मिलने से आमदनी बढ़ाने में भी कोई दिलचस्पी न लेता था।"

१८७१ में लार्ड मेयो ने आर्थिक अकेन्द्रीकरण (Financial Decentrialisation) की प्रथा प्रचलित करके स्थिति को कुछ सुधारना चाहा। १८७१ ई० के 'प्रान्तीय बन्दोबस्त' के अपने प्रस्ताव के साथ उसने पुलिस, शिक्षा, सड़कें, सिविल काम, रजिस्ट्रेशन, दवाई और जेल आदि कुछ विभाग प्रान्तों को सौंप दिये। इन कामों को चलाने के लिए केन्द्रीय सरकारों ने इन विभागों से होने वाली आमदनी के अलावा भी एक नियत रक़म देना मंजूर किया। लेकिन यह प्रबन्ध भी बहुत दोषपूर्ण साबित हुआ। पहले तो केन्द्रीय सरकार से दी जानेवाली सहायता ज़रूरतों को पूरा न करती थी। सहायता की रक़म अपनी मर्ज़ी से तय करली जाती थी, प्रान्तीय सरकारों से परामर्श न लिया जाता था। ज़्यादातर सूबों में उपर्युक्त विभागों के प्रबन्ध के लिए नाकाफ़ी रक़म मिलती थी। इसमें शक नहीं कि प्रान्तों को अपना घाटा पूरा करने के लिए स्थानीय टैक्स लगाने का अधिकार था, लेकिन टैक्स लगाने के स्रोतों पर पहले से ही केन्द्रीय सरकार क़ब्ज़ा कर चुकी थी। केन्द्रीय सरकार ने बहुत ग़रीब लोगों को छोड़कर और सब पर काफ़ी टैक्स लगा दिये थे। उन्हीं ग़रीबों पर ही प्रान्तीय सरकारें टैक्स लगाना चाहें, तो लगा सकती थीं।

१८७७ ई० में लार्ड लिटन ने अकेन्द्रीकरण को कुछ और बढ़ाकर इस योजना में सुधार करना चाहा। बाक़ी बचे हुए

मालगुज़ारी, एक्साइज़, टिकट, सामान्य प्रवन्ध, क़ानून और न्याय आदि सब विभागों को भी, जिनका वाह्यरूप प्रान्तीय था, प्रान्तीय सरकारों के सिपुर्द कर दिया गया। एक निश्चित सालाना रक़म के अलावा आपके कुछ ज़रियों—एक्साइज़, टिकट, क़ानून व अदालत की फ़ीस, और लाइसैंस टैक्स में से एक नियत हिस्सा भी प्रान्तीय सरकारों को मिलने लगा। इससे आर्थिक पद्धति में एक नये सिद्धान्त का—प्रान्तों और केन्द्र में कुछ निश्चित आमदनी के विभाजन का सिद्धान्त चालू हुआ।

१८८२ ई० में लार्ड रिपन ने आर्थिक अकेन्द्रीकरण की दिशा में एक और क़दम उठाया। एक निश्चित रक़म देने का रिवाज़ वन्द कर दिया गया और आमदनी के ज़रियों को तीन भागों में वाँट दिया गया—(१) अफ़ीम, नमक, समुद्रतट-चुंगी, व्यापारिक कार्य आदि केन्द्रीय मद; (२) सिविल डिपार्टमेएट, प्रान्तीय काम व दर आदि प्रान्तीय मद और (३) एक्साइज़, नये लगाये गये कर, टिकट, जङ्गल आदि केन्द्र व प्रान्तों में वाँटे जानेवाले मद। केन्द्रीय मद के ज़रियों से होनेवाली सारी आमदनी केन्द्रीय सरकार को और प्रान्तीय मदों से होनेवाली सारी आमदनी प्रान्तीय सरकारों को मिलने लगी। तीसरी श्रेणी की आमदनी केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों में वँट जाती थी। इस योजना ने पहली वार प्रान्तों को आमदनी के कुछ स्वतंत्र और निश्चित ज़रिये सौंपे। इसी आधार पर केन्द्रीय सरकार ने हरएक प्रान्तीय सरकार से अलग-अलग समझौता किया। ये समझौते अस्थायी

थे और हर पाँचवें साल इन्हें संशोधित किया जाता था। परन्तु इन समझौतों का हर पाँचवें साल संशोधन और आमदनी का केन्द्र व प्रान्तों में पारस्परिक विभाजन, आपस में खूब बहस और झगड़े बढ़ा देता था। यह झगड़े इसलिए और भी बढ़ जाते थे कि केन्द्रीय सरकार सब प्रान्तों के साथ एक-सा न्याय नहीं करती थी और बड़ा हिस्सा अपने आप रख लेती थी।

१९०४ में लार्ड कर्ज़न ने यह घोषणा करके स्थिति को और सुधारने की कोशिश की कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था स्थिर-सी ही समझनी चाहिए। इन समझौतों में तबतक कोई तब्दीली न की जायगी, जबतक लड़ाई या अकाल आदि असाधारण आपत्तियाँ परिस्थितियों को बदल न दें। यह सिर्फ़ इसीलिए किया गया कि प्रान्त अपनी आमदनी व ख़र्च में पूरी दिलचस्पी लेने लगें। केन्द्रीय बजट की बचत में से एक नियत राशि सहायता देने की स्कीम भी लार्ड कर्ज़न ने शुरू की।

१९१२ में लार्ड हार्डिंज ने घोषणा की कि ये समझौते स्थिर ही रहेंगे। १९१९ के सुधारों के शुरू होने तक कोई और परिवर्तन नहीं हुआ और स्थिति निम्नलिखित रही—तटकर की चुंगी, नमक, अफ़ीम, रेलवे, खान, विनिमय, डाक व तार और रियासतों की भेंटों की आमदनी केन्द्रीय सरकार को मिलती थी। जङ्गल, एक्साइज़ (बङ्गाल व बम्बई में), रजिस्ट्रेशन, शिक्षा, क़ानून और न्याय से होनेवाली आमदनी पर प्रान्तीय सरकार

इस पद्धति में दोष

का पूरा क़ब्ज़ा था। इन्कम-टैक्स, मालगुज़ारी, सिंचाई, टिकट व एक्साइज़ (बङ्गाल व विहार को छोड़कर) की आमदनी केन्द्र और प्रान्तों में हरएक सूबे से अलग-अलग हुए समझौते के अनुसार बँट जाती थी। इस पद्धति में भी अनेक दोष थे। पहला यह कि बँटे हुए मदों के कारण केन्द्रीय सरकार को प्रान्तीय सरक़ारों के आर्थिक मामलों में अनावश्यक दस्तंदाज़ी करने का बहुत मौक़ा मिलता था। दूसरा दोष यह था कि अब भी अधिकांश प्रान्तीय आमदनी पर केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण रहता था। टैक्स की दर और ख़र्च के प्रकार का वही निश्चय करती थी। प्रान्त नये टैक्स लगाने और क़र्ज़ा लेने में आज़ाद न थे। इस पद्धति में तीसरा दोष यह था कि सब प्रान्तों के साथ केन्द्रीय सरकार एक-सा न्याययुक्त व्यवहार न करती थी। प्रत्येक प्रान्त की ज़रूरतों के मुताबिक आमदनी के ज़रियों को मिलाने की कभी कोई कोशिश ही नहीं की गई। चौथा और अन्तिम दोष यह था कि कुल आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा केन्द्रीय सरकार हड़प लेती थी और वास्तविक उन्नति की योजनाओं के लिए प्रान्तों के पास बहुत थोड़े साधन बच रहते थे। सुधारों की नई आर्थिक योजना चलने से ठीक पहले १६१६–२० ई० में प्रान्तीय सरकार की आमदनी देश की कुल आमदनी के ३० फ़ीसदी से कुछ ही ज़्यादा थी। इसका साफ़ अर्थ यह था कि राष्ट्र-निर्माण के कामों पर बहुत थोड़ा ख़र्च हो।

१६१६ के माण्टेगू चैम्सफ़ोर्ड सुधारों ने केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के आपसी आर्थिक सम्बन्धों की दिशा में एक नया क़दम उठाया। शासन-विधान-सम्बन्धी सुधारों की रिपोर्ट में लिखा गया है—

१६१६ के बाद प्रान्तों की आर्थिक स्थिति

"अगर प्रान्तीय स्वाधीनता का दर-असल कुछ अर्थ है, तो प्रान्तों को अपनी उन्नति के लिए भारत-सरकार पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। वर्तमान व्यवस्था ख़र्च बढ़ाने की प्रवृत्ति पैदा करती है, लेकिन किसी नई व्यवसाय योजना के लिए प्रान्तीय सरकारों को भारत-सरकार की बचत में से मिलनेवाली सहायता की ओर ताकना पड़ता है। हमारा ख़याल यह है कि पहले भारत-सरकार के सारे ख़र्च का अन्दाज़ कर लिया जाय और उस ख़र्च को पूरा करने के लिए आवश्यक आय-साधन भारत-सरकार ले ले। इसके बाद बाकी सब आमदनी प्रान्तीय सरकारों को दे दी जाय।" सुधारों ने सबसे पहले सब राष्ट्र-निर्माणकारी कामों का पूरा प्रबन्ध प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया। फिर प्रान्तों की आमदनी बढ़ाने के लिए बँटनेवाले मद ख़तम कर दिये और केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के आय-स्रोतों के बीच एक स्पष्ट रेखा खींचदी। कस्टम, इन्कम-टैक्स, रेलवे, नमक, अफ़ीम, डाक व तार और सैनिक वसूलियाँ केन्द्रीय-सरकार के हाथ में, और मालगुज़ारी, सिंचाई, टिकट, रजिस्ट्रेशन, एक्साइज़ और जङ्गल प्रान्तीय सरकारों के हाथों में

सौंप दिये गये। टैक्स लगाने के ज़्यादा अधिकार व क़र्ज़ लेने में ज़्यादा आज़ादी भी प्रान्तीय सरकारों को दी गई।

मैस्टन का फ़ैसला

शुरू में प्रान्तों के दृष्टिकोण से यह व्यवस्था बहुत सन्तोष-जनक दीखती थी, लेकिन अमल में आने पर वही पद्धति जारी होगई, जो पिछले ५० सालों से चली आरही थी। यह जल्दी ही मालूम होगया कि आमदनी के ज़रियों का नया विभाजन केन्द्रीय सरकार के लिए बहुत घाटे का सौदा है। केन्द्रीय सरकार ने बेहद बढ़े हुए ख़र्च कम करने का महत्त्वपूर्ण क़दम उठाकर यह घाटा पूरा नहीं किया। इसके लिए प्रान्तों के सिर पर एक भार डाला गया कि वे हर साल केन्द्रीय खज़ाने में इतनी-इतनी रक़म दान दें। १९२० में लार्ड मैस्टन की अध्यक्षता में एक कमेटी यह नियत करने के लिए बिठाई गई कि कौन प्रान्त कितनी रक़म केन्द्रीय सरकार को दिया करे। इस कमेटी की सिफ़ारिशें बहुत निरंकुश थीं, फिर भी सरकार ने उन्हें मान लिया। कमेटी ने प्रान्तों की बढ़ी हुई आमदनी पर तो खूब नज़र लगाई, लेकिन प्रान्तों की ज़रूरतों और भविष्य में सम्भावित उन्नति की ओर से आँखें बन्द करलीं। कुछ प्रान्तों पर दूसरे प्रान्तों से अधिक भार लाद दिया गया, जैसे—मद्रास, युक्तप्रान्त, और पंजाब। केन्द्रीय सरकार का ७८ फ़ीसदी घाटा इन तीन प्रान्तों में बाँट दिया गया, जब कि बम्बई और बङ्गाल के सिर पर क्रमशः सिर्फ़ ६॥ और ५॥ फ़ीसदी ही भार डाला गया।

मैस्टन कमेटी के निर्णय ने प्रत्येक प्रान्त में तीव्र असन्तोष पैदा कर दिया। ये रक़में इसी ख़याल पर लगाई गई थीं कि प्रान्तों की वचत जारी रहेगी। लेकिन जैसा कि लेख (Layton) रिपोर्ट में लिखा है, "युद्ध के एकदम वाद हरएक प्रान्त को कर्मचारियों की तनख्वाहों में भारी वृद्धि का मुक़ाविला करना पड़ा। हरएक प्रान्त में घाटा होने लगा। मैस्टन कमेटी ने वङ्गाल की ज़्यादा आमदनी का जो अनुमान किया था, उससे भी वहुत ज़्यादा ख़र्च वेतन-वृद्धि से वढ़ गया। आगामी दो-एक सालों में हरएक सूबे में किफ़ायतशारी कमेटियाँ स्थापित होने लगीं और ख़र्चों को कम करने की जवरदस्त कोशिश होने लगी। वहुत थोड़े सूवे में इन सालों में राष्ट्रोपयोगी और सार्वजनिक उन्नति के कामों पर ख़र्च वढ़ा सके।"

मैस्टन के फ़ैसले द्वारा सूबों पर जो भार डाला गया था, उसके अलावा भी सुधारों ने केन्द्र या प्रान्तों में आय का जो विभाजन किया था, वह भी ऐसा न था कि प्रान्त उन्नति करने के लिए उस पर भरोसा कर सकते। यहाँ ध्यान देने की ख़ास वात यह है कि इनके ज़िम्मे राष्ट्र-निर्माण के जो काम सौंपे हुए थे, उनको थोड़ा-सा भी वढ़ानेपर ख़र्च वट जाते थे, लेकिन इसके विपरीत उनकी आय के ज़रिये वहुत ही निश्चित सीमित थे। उनसे आमदनी वढ़ाई नहीं जा सकती थी। दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार की आमदनी के ज़रिये ख़ूव वढ़ सकते थे, हालां कि सेना और अन्य केन्द्रीय विभागों पर पहले ही ख़र्च का वहुत

अन्दाजा लगाकर उन्हें काफ़ी आमदनी के स्रोत दे दिये गये थे। प्रान्तीय आमदनी का एक बहुत महत्वपूर्ण जरिया मालगुजारी था। इसमें १६१३–१६२६ में केवल ७॥ फीसदी तरक्की हुई। लेकिन जैसा कि लेटन रिपोर्ट में लिखा है—"कुल खर्चों में से मालगुजारी वसूली का खर्च पता लगाना असम्भव-सा है, क्योंकि साधारण शासन-प्रबन्ध से इस खर्च को अलग नहीं किया जा सकता। लेकिन इसमें शक नहीं कि यदि इस खर्च को किसी तरह अलग किया जा सके और मालगुजारी आदि की कुल भूमि सम्बन्धी आमदनी में से घटाया जाय, तो जमीनों को वास्तविक आय में कुछ कमी ही दीखेगी। क़ीमतों और वेतनों में जो वृद्धि हुई है, उसके मुकाबिले में जमीन से आमदनी बहुत कम बढ़ी है। पहले जितने अनुपात में सरकारी खर्चे जमीन की आमदनी से पूरे होते थे, उससे कहीं कम अनुपात में अब होते हैं।" एक्साइज की भी आमदनी काफ़ी स्थिर ही थी। किसी-किसी सूबे में इससे भी आमदनी कम होने का ख़तरा महसूस होने लगा। १६२१–२५ में कोई फीस और टिकटों की दर में कुछ वृद्धि होने से टिकटों से सालाना आमदनी में कुछ बढ़ती अवश्य हुई। लेकिन पीछे कुछ सूबों में फीस और टिकट दर में फिर कमी होने के कारण टिकटों से होनेवाली अतिरिक्त आमदनी बन्द हो गई। नहरी सिंचाई से भी बहुत फ़ायदा होना बन्द हो गया; क्योंकि नहर के चलतू खर्च (खासकर वेतन और पदार्थों की क़ीमतें) युद्ध के बाद बहुत बढ़ गये थे। जुआ तथा मनोरंजन

आदि पर प्रान्तीय सरकारों द्वारा जो कर लगाये गये थे, उनसे इतनी कम रक़म मिलती थी कि उनसे प्रान्तीय सरकारों को कोई उल्लेख योग्य सहायता मिल नहीं सकती थी। इस तरह १६२३-२४ से १६२८-२६ तक ख़र्च तो २२ फ़ीसदी बढ़ गये, लेकिन आमदनी में सिर्फ़ ४ फ़ीसदी तरक्क़ी हुई।

इसके बरख़िलाफ़ केन्द्रीय सरकार की आमदनी ख़ूब बढ़ी। १६२१-२२ में कस्टम चुंगी से ३४ करोड़ ४१ लाख रुपये की आमदनी हुई थी, लेकिन १६३२-३३ में ५२ करोड़ रुपये आमदनी हुई। १६२२-२३ में रेलवे से सामन्य आय कोश में १ करोड़ २२ लाख रुपये मिले, लेकिन १६३०-३१ के बजट में ५ करोड़ ७४ लाख रु० का नफ़ा दिखाया गया था। १६२१-२२ में नमक और अफ़ीम से क्रमशः ६ करोड़ ३४ लाख व १ करोड़ २७ लाख रुपये की आय हुई थी, लेकिन ११ साल बाद यह आमदनी बढ़कर क्रमशः १० करोड़ और २ करोड़ रुपये हो गई। इन्कमटैक्स की आमदनी भी इसी तरह बढ़ी। १६२५-२६ में इससे कुल १५ करोड़ ८६ लाख रुपये मिले थे, लेकिन सात साल बाद यही आमदनी बढ़कर १८ करोड़ रुपये हो गई।

इस तरह हमने देखा कि मांटेगू चेम्सफोर्ड सुधारों ने प्रान्तों के सिर पर सब राष्ट्रनिर्माणकारी काम तो लाद दिये, लेकिन उनकी मर्ज़ी पर आमदनी के इतने कम ज़रिये छोड़े कि इन कामों की ठोस उन्नति असम्भव थी। भारत के नये शासन सुधारों पर बैठी हुई ज्वायन्ट-कमेटी (१६३३-३४) ने भी यह मंज़ूर

किया था कि "खर्च के ख़याल से हालत यह है कि प्रान्तों के पास सार्वजनिक हित का बहुत विस्तृत क्षेत्र है और दूसरी ओर केन्द्र के पास ऐसे विभाग हैं कि लड़ाई या सीमान्त के उपद्रव के सिवा साधारण समय में उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता, वे प्रायः हमेशा स्थिर से रहते हैं। प्रान्त अपनी सार्वजनिक आवश्यकताओं को मुश्किल से पूरा कर पाते हैं, जब कि केन्द्रीय सरकार के पास आमदनी के ऐसे ज़रिये हैं कि कुछ ही समय में वे खूब बढ़ाये जा सकते हैं।" पिछले १४-१५ सालों तक प्रांत घाटा उठाते रहे हैं। १६२१ से १६३३ तक प्रांतों को घाटा २३ करोड़ ८० लाख रुपया हुआ था। यह घाटा केन्द्रीय सरकार के पास रखे गये प्रान्तीय ऋण कोश से अदा किया गया। इस घाटे में से १० करोड़ का घाटा तो 'मैस्टन के फ़ैसले' के मुताबिक़ केन्द्रीय ख़ज़ाने में भेंट देने के कारण हुआ। यद्यपि १६२८ में देने की यह प्रथा बन्द कर दी गई थी, फिर भी प्रांतों की आर्थिक स्थिति न सुधरी। राष्ट्रनिर्माणकारी कामों की उन्नति बहुत थोड़ी रही। दरअसल बंगाल में तो कोई तरक्की हुई ही नहीं। १६३३-३४ में बंगाल में प्राथमिक शिक्षा पर १६२२-२३ की अपेक्षा कम खर्च हुआ।

दूसरी तरफ़ प्रान्तों की इस स्थिति के विपरीत केन्द्रीय-सरकार को १६२१ से १६३२ तक १० करोड़ की बचत हुई। इस बचत से सार्वजनिक ऋण को कम किया गया। केन्द्रीय-सरकार के कुल ख़र्चों का ६० फ़ीसदी तो फ़ौज पर ही ख़र्च होता था।

फ़ौज पर भारी ख़र्च

१६२१-२२ में फ़ौज पर ६६ करोड़ ८१ लाख रुपये, १६३०-३१ में ५४ करोड़ रुपया और आर्थिक-संकट के बावजूद भी १६३६-३७ में ५० करोड़ रुपया (बजट) ख़र्च किया गया। किसी भी हालत में, किसी भी दलील से, इस भारी अनुत्पादक ख़र्च को उचित नहीं ठहराया जा सकता। सर वाल्टर लेटन ने भी यह स्वीकार किया था कि "अर्थशास्त्र की भाषा में यह बहुत बड़ा बोझ है और फिर भारत के मामले में तो ज़्यादातर फ़ौज बाहर से आई हुई है। भारत के दूसरे ख़र्चों का ख़याल न भी करें, तो भी फ़ौज का ख़र्च निस्सन्देह बहुत भारी है। संसार के विविध राष्ट्रों के सैनिक-ख़र्चों की तुलना से मालूम होता है कि बड़ी ताकतों में भारत का सातवाँ नम्बर है और उसका सैनिक-ख़र्च ब्रिटेन को छोड़कर बाक़ी सारे साम्राज्य के सैनिक-ख़र्चों से दो या तीन गुना है। फिर यह ख़र्च सिर्फ़ दूसरे मुल्कों के मुकाबिले में ही नहीं बढ़ा हुआ, लेकिन लड़ाई के पहले की स्थिति से भी यह ख़र्च बहुत बढ़ा हुआ है। दरअसल पिछली लड़ाई के बाद संसार की रक्षा की जो भावना पैदा हुई है, उससे हिन्दुस्तान को ज़रा भी फ़ायदा नहीं हुआ। इसके विपरीत क़ीमतों में जितनी वृद्धि हुई है, उसके हिसाब से भी कहीं ज़्यादा अनुपात में उसका फ़ौजी-ख़र्च बढ़ा है और साम्राज्य के दूसरे हिस्सों की अपेक्षा ज़्यादा तेज़ी से बढ़ा है।"

हिन्दुस्तान की फ़ौज हमेशा लड़ाई के लिए तैयार रखी जाती है। १८७६ के शिमला-आर्मी-कमीशन ने लिखा था कि

"हिन्दुस्तान में सेना दो उद्देश्यों से रखनी चाहिये। (१) बाहर के किसी आक्रमण या लड़ाई की धमकी को रोकने के लिए और (२) ब्रिटिश-भारत या रियासतों में किसी विद्रोह को असम्भव बनाने के लिए।" लेकिन ब्रिटिश-साम्राज्य के बढ़ने के साथ-साथ हिन्दुस्तानी फ़ौज का महत्त्व भी बढ़ गया। पूर्व में ब्रिटिश-हितों के रक्षा की जिम्मेवारी भी उसपर डाल दी गई। १९०४-०५ के बजट की बहस के सिलसिले में सर ई० ऐलिस ने भारतीय-सेना के इस नये कार्य का स्पष्ट वर्णन किया था। उन्होंने कहा था—"जब तक एशियाई राज्यों को मिलाया जाना जरूरी है, तबतक हम तो पहाड़ के पीछे हैं, यह सोचकर सन्तोष कर लेना क्या मूर्खता नहीं है? मुझे इसमें शक नहीं कि एशिया में शक्तिसंतुलन की स्थापना के लिए भारतीय-सेना भविष्य में एक मुख्य साधन साबित होगी। भारतीय-सेना का काम महज स्थानीय-रक्षा और अमन-अमान क़ायम करना ही नहीं है, यह किसी तरह भी नहीं माना जा सकता।" इस तरह ब्रिटिश-हितों के लिए पूर्व में किये जानेवाले सब युद्धों में हिन्दुस्तानी फ़ौज धकेली गई और हिन्दुस्तान के खजाने को इन सब लड़ाइयों का बोझ बरदाश्त करना पड़ा। १८३८ से १९२० तक १९ दफ़ा साम्राज्य के हित के लिए हिन्दुस्तान से बाहर यहाँ की फ़ौज भेजी गई है और आज साम्राज्य की दृष्टि से भारतीय-सेना का महत्त्व सभी खुल्लमखुल्ला स्वीकार करते हैं।

केन्द्रीय-सरकार का दूसरा बड़ा भारी महत्त्वपूर्ण ख़र्च सर-

कारी कर्ज़ का सूद है। ३१ मार्च १६३४ को भारत पर कुल कर्ज़ १२ अरब १० करोड़ रुपये था, जिसमें से ५ अरब इंग्लैण्ड से उधार लिया गया था और शेष ७ अरब भारत से। १६३४-३५ में भारत-सरकार के साधारण कर्ज़ पर सूद ३६ करोड़ रुपये से ऊपर था। हम पहले अध्याय में बता चुके हैं कि किस तरह सरकार ने अन्धाधुन्ध कर्ज़, जिसका बड़ा भाग अनुत्पादक कामों के लिए था, लेकर, इस रक़म को इतना ज़्यादा बढ़ा दिया। ब्रिटिश-पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाने के लिए सरकार ने भारतीय-करदाता की, जिसपर दरअसल सरकारी-कर्ज़ का बोझ पड़ता है, किस तरह उपेक्षा की, इसका हम यहाँ एक ही उदाहरण देंगे। १६२१-२२ में भारत-सरकार ने इंग्लैण्ड में ७ फ़ीसदी सूद पर ७ करोड़ ५० लाख रुपये क़र्ज़ लिए, जबकि ठीक इसी समय अफ्रीका व आस्ट्रेलिया ने लन्दन में ५ फ़ीसदी सूद पर कर्ज़ लिया। यह अकेला ही उदाहरण नहीं है। यह सभी जानते हैं कि भारत-सरकार हमेशा लन्दन के बाज़ार में महँगे सूद पर क़र्ज़ लेती रही है

कर्ज़ का सूद

केन्द्र या प्रान्तों में भारत का शासन-प्रबन्ध संसार के सब देशों से महँगा है। यह अपने भारी ख़र्च के लिए बदनाम है। नौकरी और भारत सरकार के नौकरों की तनख़्वाहें बहुत ज़्यादा ऊँची होती हैं। देश की ग़रीबी के ख़याल से ही नहीं, नौकरों की कार्यक्षमता के ख़याल से भी ये ऊँची होती हैं। दूसरे देशों में लग

शासन प्रबंध

कर ये सरकारी नौकर कभी इतना नहीं कमा सकते। भारत सरकार देश में अमन व शान्ति रखने को बहुत महत्व देती है, और इस उद्देश्य के लिये कोई भी ख़र्च क्यों न हो, ज़्यादा नहीं समझा जाता। १९३२-३३ में सिर्फ़ मुल्की इन्तज़ाम पर ६० करोड़ रुपये ख़र्च किये गये।

जिस स्थिति का हमने ऊपर वर्णन किया है, उसे हम निम्न शब्दों में संक्षेप से कह सकते हैं। फ़ौज, सरकारी क़र्ज़ व सिविल प्रबंध के भारी ख़र्चों को पूरा करने के लिये भारत सरकार ने आमदनी के अधिकांश बड़े साधनों पर क़ब्ज़ा कर रक्खा है। इससे प्रान्त लगातार घाटे की स्थिति में पड़ गये हैं, लेकिन देश में शासन की ख़र्चीली और अतिव्यय साध्य प्रणाली को रखना बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है, इसलिये राष्ट्रनिर्माण के काम बिलकुल उपेक्षित हो गये हैं। केन्द्रीय या प्रान्तीय कुल सरकारी ख़र्च का २५ फ़ीसदी फ़ौज पर, क़रीब २५ फ़ीसदी सरकारी क़र्ज़ पर, ९ फ़ीसदी पुलिस जेल और न्याय पर, ६ फ़ीसदी सामान्य शासन प्रबंध पर, ६ फ़ीसदी सार्वजनिक कामों पर, और ४ फ़ीसदी मालगुज़ारी व जङ्गलों पर ख़र्च होता है। राष्ट्रनिर्माणकारी कामों में शिक्षा पर सिर्फ़ ६ फ़ीसदी, चिकित्सा व सार्वजनिक स्वास्थ्य पर केवल २ फ़ीसदी, सिंचाई पर ३ फ़ीसदी ख़र्च होता है। खेती व उद्योग-धन्धों की तरक़्क़ी पर नहीं के बराबर होता है। यह बात स्मरण रखने की है कि कुल ख़र्चों के १५ फ़ीसदी से कुछ ही ऊपर राष्ट्रनिर्माण पर ख़र्च होता

है। और वाक़ी सारा फ़ौज व अमन-अमान क़ायम रखने पर ख़र्च होता है।

१८७६ से अबतक फ़ौज शान्ति व क़ानून की रक्षा आदि कामों और सार्वजनिक हित के कामों में कितना-कितना ख़र्च हुआ है। इसकी नीचे लिखी तालिका बहुत उपयोगी साबित होगी—

प्रति हज़ार व्यक्तियों पर ख़र्च (रुपयों में)

साल	फ़ौज पुलिस आदि	सार्वजनिक हित के मद
१८७६	१८१०	१५९
१८८६	२१०८	१६६
१८९६	२१४२	२०१
१९०६	२४६२	२७७
१९१२	२५१४	३०२
१९२१	४५११	५८८
१९२९	४२१०	८७६

ऊपर लिखे आंकड़े खुद बोल रहे हैं। साइमन कमीशन के फाइनैंशल असेसर सर वाल्टर लेटन ने भी भारत की आर्थिक स्थिति के मुख्य पहलुओं को निम्नलिखित रूप से मंजूर किया था—

भीषण परिणाम

"देश की साधारण जनता बहुत ग़रीब है। पश्चिमी देशों की अपेक्षा भारत में फ़ौज और क़ानून व शान्ति पर कहीं राष्ट्रीय सम्पत्ति के अनुपात से कहीं ज्यादा खर्च होता है।

"दूसरी ओर शिक्षा, स्वास्थ्य, सफ़ाई आदि सार्वजनिक हित के कार्यों में भारत पश्चिमी देशों से बहुत पीछे हैं। कई काम तो भारत में होते ही नहीं।"

इस नीति का परिणाम भी ध्यान में रखने योग्य है। १९३१ की जन-संख्या के अनुसार भारत में २,३६,६९,७५१ आदमी और ४१,६६,१०५ स्त्रियाँ शिक्षित थीं अर्थात् कुल जन-संख्या का ८ फ़ीसदी व्यक्ति भारत में साक्षर हैं। १०३६ आदमियों के पीछे १९३०-३१ में एक शिक्षालय था। सिर्फ़ प्रारम्भिक-शिक्षा के ख़याल से देखें, तो १३२९ में लोगों के पीछे एक स्कूल था। इस साल प्रति व्यक्ति शिक्षा पर १) ख़र्च किया गया, जब-कि इसी साल जापान में ११) रु०, ग्रेटब्रिटेन में ३२) रु०, कनाडा में ४८) रु० और संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में ६५) रु० ख़र्च हुआ। सोवियट रूस ने पहली पञ्चवार्षिक-योजना में ११अरब २९ करोड़ रूबल शिक्षा पर ख़र्च किये अर्थात् प्रत्येक विद्यार्थी पर १५८) रुपये।

चिकित्सा तथा स्वास्थ्य की ओर सरकार ने जो उदासीनता दिखाई, उसका परिणाम तो और भी भीषण हुआ है। १९२० से १९३० तक भारत में औसत मृत्यु २४.५ प्रति हज़ार थी। इंग्लैण्ड में इन्हीं दस सालों में मृत्यु की औसत १२.५, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में ११.३, जर्मनी में ११.१, फ्रांस में १६.३ और जापान में १८.१७ प्रति हज़ार थी, भारत में बच्चों की मृत्यु-संख्या का अनुपात सारे देश से अधिक ऊँचा है। सारे देश में प्रति हज़ार क़रीब २३० बच्चे एक साल की उम्र तक पहुँचने से पहले मर जाते हैं, जबकि इंग्लैण्ड व वेल्स में ५१ फ़ी हज़ार से ज़्यादा मृत्यु-संख्या नहीं है।

मृत्यु-संख्या और रोग

१९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार ब्रिटिश-भारत में मनुष्य की औसत आयु सिर्फ २६.७ साल है, जबकि इंग्लैण्ड में उम्र की औसत ५७.६ साल, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में ५६.४, जर्मनी में ४६.४, फ्रांस में ५०.५ और जापान में ४४.५ है। महामारियों से हरसाल लाखों आदमी मर जाते हैं। १९१८ की इन्फ्लुएंजा की बीमारी में १ करोड़ १० लाख से कम नहीं मरे। जिन बीमारियों को रोका भी जा सकता है, उनसे भी हरसाल हज़ारों आदमी मर जाते हैं। १९२७-२८ में बंगाल के सार्वजनिक-स्वास्थ्य के डाइरेक्टर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था:—

"सिर्फ़ बंगाल में १५ लाख आदमी हरसाल मरते हैं। १५ साल से कम उम्र में हरसाल ७ लाख ५० हज़ार बच्चे मर जाते हैं। कुल मृत्युओं की संख्या का यह १५ फ़ीसदी है। इसमें से २५ फ़ीसदी मृत्युएँ साध्य बीमारियों से होती हैं।......पिछले साल हैज़े से १,२०,००० आदमी, मलेरिया से ३,५०,०००, तपेदिक से ३,५०,००० और अन्तड़ियों की बीमारियों से १,००,००० आदमी मर गये थे। औसतन ५५००० बच्चे पैदा होते ही हरसाल दौरे से मर जाते हैं।" कुछ साल पहले इण्डियन-मैडिकल-सर्विस के डायरेक्टर सर जान मेगा ने एक जाँच की थी। उसमें उन्होंने बताया था कि गुप्त रोगों से १ करोड़ ३० लाख आदमी ग्रस्त हैं। तपेदिक लगातार ज़ोरों से बढ़ रही है, २० लाख की सं[illegible]स रोग के शिकारों के लिए थोड़ी है। खराब खाने के कारण, ६० लाख आदमियों को रतौंधी की तकलीफ़ है, लगातार साठ लाख बिल्कुल अन्धे हैं। २० लाख मनुष्यों को अन्तड़ियों की बीमारी रहती है। कम-से-कम ५ करोड़ हरसाल मलेरिया के शिकार होते हैं और यह संख्या १० [illegible]रोड़ तक जा सकती है।

: ५ :

नये विधान में प्रान्त की आर्थिक-स्थिति

अब हमें यह देखना चाहिये कि क्या नया शासन-विधान भारत-सरकार का आर्थिक नियन्त्रण तोड़कर प्रान्तों को राष्ट्र-निर्माण के कामों के लिए आमदनी के काफ़ी ज़रिये देता है। वर्तमान आर्थिक-व्यवस्था की आलोचना करते हुए ज्वायण्ट पार्लेमेंटरी-कमेटी ने लिखा था:—"वर्तमान व्यवस्था का पिछला अनुभव हमें दो परिणामों की ओर ले जाता है, जिनपर सभी सहमत हैं (१) कुछ ऐसे प्रान्त हैं, जिनकी उचित आवश्यकता भी पूरी नहीं होती और (२) केन्द्र व प्रान्तों में आय-साधनों का वर्तमान पक्षपात-पूर्ण विभाजन भी केन्द्र को ऐसे साधन दे देता है, जो आर्थिक-उन्नति के साथ-साथ खूब बढ़ सकते हैं। प्रान्त यदि आयकर (इन्कम टैक्स) में से एक बड़े हिस्से पर दावा करते हैं, तो वह ठीक ही है। बंगाल व बम्बई जैसे व्यवसाय प्रधान प्रान्तों ने इस दावे पर खूब ही जोर दिया है।"

प्रान्तों की आमदनी को अपर्याप्त मानते हुए गवर्नमेण्ट-आफ़-इण्डिया-एक्ट १९३५ में नीचे लिखे उपाय बतायेगये हैं:-

(क) जायदाद के उत्तराधिकार पर कर, टिकट कर, टर्मिनल टैक्स, और किराये-भाड़े का टैक्स संघ-सरकार वसूल करेगी लेकिन खर्च निकाल कर के पूरी बचत प्रान्तों को देदी जायगी। संघ को यह अधिकार होगा कि वह अपने काम के लिए इन्हीं पर अतिरिक्त कर लगा सके।

(ख) खेती की आमदनी के सिवाय बाकी सब आमदनियों पर संघ-सरकार टैक्स लगायेगी औ वसूल करेगी, लेकिन कुल बचत का एक नियत भाग हरसा प्रान्तों को देना होगा। प्रान्तों का हिस्सा उन्हें एकदम न मिलकर एक नियत समय के बाद मिलेगा। पहले वे अपनी आवश्यकताओं के लिए प्रान्तीय हिस्से में से एक रक़म रख लेंगे। लेकिन शनैः-शनैः वे अपने पास रखी जानेवाली रक़म घटाते जायँगे और एक नियत मियाद तक प्रान्तों को उनका पूरा हिस्सा मिलने लग जायगा। संघ-सरकार को इन्कम-टैक्स पर अतिरिक्त कर लगाने और अपने पास रखने का पूरा हक़ होगा।

(ग) जूट या जूट के माल पर लगे हुए निर्यात कर की कुल बचत का ५० फ़ीसदी या एक बड़ा हिस्सा प्रतिवर्ष प्रान्तों को देना होगा।

(घ) घाटेवाले प्रान्तों को केन्द्रीय-सरकार सहायता दिया करेगी।

दिसम्बर १६३५ में सर ओटोनीमियर को इस काम के लिए नियुक्त किया गया कि वे ऐक्ट की उपर्युक्त धाराओं व उनसे पैदा होनेवाली पेचीदगियों पर विचार करें, और साथ ही वे सिफ़ारिशें भी करें। जिन्हें इन धाराओं को चालू करने के लिए वे ज़रूरी समझें।

ओटोनीमियर की रिपोर्ट

सर नीमियर ने अपनी रिपोर्ट के शुरू में यह माना है कि "प्रान्तीय स्वाधीनता की स्थापना के अवसर पर यह व्यवस्था तो हो ही जानी चाहिये कि प्रत्येक प्रान्त अपनी आमदनी और ख़र्च का संतुलन रख सके और कम-से-कम घाटे की वह हालत तो न रहे, जो आज कई प्रान्तों की है।" लेकिन ठीक इसके बाद ही रिपोर्ट में लिखा है—"दूसरी ओर केन्द्रीय दृष्टिकोण से यह भी स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत की आर्थिक स्थिरता और साख की रक्षा सबसे अधिक ज़रूरी है। ......अपनी प्रत्येक सिफ़ारिश करते हुए मैंने इस केन्द्रीय आर्थिक स्थिरता का पूरा ध्यान रखा है।" तब फिर "केन्द्रीय सरकार का ख़र्च जिस सीमा तक घट चुका है, उससे ज्यादा तबतक नहीं घटाया जा सकता, जबतक हम प्रबन्ध की योग्यता और रक्षा की चिन्ता करते रहते हैं।"

इस तरह सर ओटो नीमियर ने इस समस्या पर विचार करने से पहले यह मान लिया है कि भविष्य में व्यवस्था में कुछ भी तबदीली क्यों न करनी पड़े, केन्द्रीय ख़र्च नहीं घटाये

जा सकते। इसलिए यह पहले से ही परिणाम निकाला जा सकता है कि ब्रिटिश-सरकार नीमियर-रिपोर्ट को हूबहू स्वीकार कर लेगी। सर ओटोनीमियर की खास-खास सिफारिशें निम्नलिखित हैं:—

सबसे पहले उसने घाटेवाले प्रान्तों को केन्द्रीय सरकार से सहायता देने की एक योजना रखी है। सिंध को १ करोड़ १० लाख प्रतिवर्ष, आसाम को ३० लाख प्रतिवर्ष, युक्तप्रान्त को २५ लाख (५ साल के लिए) और उड़ीसा को ४० लाख रु० (परन्तु पहले साल ४७ लाख और दूसरे, तीसरे, चौथे व पाँचवें साल ४३ लाख रु०) भारत सरकार दिया करे।

सर ओटो की दूसरी सिफ़ारिश यह थी कि जूट निर्यात-कर की विशुद्ध बचत का ६२॥ फ़ीसदी कुछ प्रान्तों में बाँटा जाय।

तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण सिफ़ारिश सर ओटो ने यह की कि इन्कमटैक्स को अमुक प्रतिशत के हिसाब से प्रान्तों में बाँटा जाय। गवर्नमेण्ट-आफ़-इण्डिया-एक्ट में प्रान्तों को यही महत्त्वपूर्ण नई देन थी। सर ओटो ने सिफ़ारिश की कि इन्कटैक्स का ५० फ़ीसदी प्रान्तों को मिले और शेष ५० फ़ीसदी संघ सरकार अपने पास रखे। उसने ५-५ साल के दो समय नियत करने का प्रस्ताव किया। इन अवधियों में भारत सरकार शनैः शनैः प्रान्तों का हिस्सा छोड़ने और उन्हें देने की उपक्रम बाँधे पहले पाँच सालों में केन्द्रीय सरकार प्रान्तों का सारा हिस्सा अपने पास रखे या इतना हिस्सा रखे, जिसमें रेलवे की १३ करोड़ तक

की आमदनी जोड़ने से ५० फीसदी केन्द्रीय हिस्सा पूरा हो जाय। दूसरे पाँच सालों में भारत सरकार अपने पास रखने वाली रक़म को आहिस्ता-आहिस्ता लेकिन बराबर इस ढंग से कम करती जाय कि पाँचवें साल के अन्त में प्रान्तों को अपना पूरा हिस्सा मिलने लग जाय। इस तरह संघ के चालू होने के १० साल बाद प्रान्तों को अपना नियत हिस्सा मिलने लग जायगा।

लेकिन क्या इन सबसे प्रान्तों को राष्ट्र-निर्माण के काम करने के लिए कोई अच्छी रक़म मिल जायगी? पहली बात तो यह है कि प्रान्तों को केन्द्र से जो सहायता मिलेगी, वह सिर्फ़ उसी घाटे की पूर्ति के लिए, जो वर्तमान शासन-व्यवस्था की ज़रूरतों को पूरा करने में होता है। यह सहायता उन्नति की किसी नयी योजना के लिए नहीं दी जायगी। दूसरी बात यह है कि जूट निर्यात कर का जो हिस्सा कुछ प्रान्तों को मिला है, उससे प्रान्त की कुछ आमदनी को बहुत थोड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि इस निर्यात-कर की कुल आमदनी ही ३॥ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष है। तीसरी बात यह कि प्रान्तों को मिलनेवाला इन्कमटैक्स का ५० फीसदी हिस्सा ६½ करोड़ से अधिक नहीं होता। यह रक़म जब प्रान्तों में बँट जायगी, तब हर एक प्रान्त के हिस्से थोड़ा-थोड़ा ही पड़ेगा। लेकिन यह रक़म भी आज नहीं, दस सालों के बाद प्रान्तों को मिलेगी। केन्द्रीय-सरकार की

रिपोर्ट पर एक नज़र

वर्तमान आर्थिक स्थिति और भारी केन्द्रीय खर्चे को (जिन्हें वे किसी भी हालत में कम करने को तैयार नहीं) दिये जानेवाले अनुचित महत्त्व को देखते हुए, यह असंभव-सा ही दीखता है कि संघ सरकार आनेवाले कुछ सालों तक प्रान्तों को इन्कमटैक्स का हिस्सा देने में कोई रियायत दिखायगी। वर्तमान आर्थिक संकट ने केन्द्रीय आमदनी के सब ज़रियों को घटा दिया है। रेलवे से पहले हरसाल साधारण कोश में काफ़ी सहायता मिला करती थी। अब न केवल उससे कुछ मिलना ही बन्द हो गया है, लेकिन १९३१ से १९३५ तक के चार सालों में ३२ क़रोड़ रुपये का घाटा भी उसे उठाना पड़ा है। रेलवे और मोटरों में मुकाबिला बढ़ रहा है। व्यापारवाणिज्य की आज की हालत देखते हुए यह उम्मीद भी नहीं होती कि इनसे भी निकट भविष्य में रेल की आमदनी बढ़ जायगी। कस्टम चुंगी भी, जिससे पहले केन्द्रीय सरकार को कुल आमदनी का ६५ फ़ीसदी मिल जाता था, अब कम हो गई है। चीनी और सूती कपड़ों पर आयात-कर से पहले सरकार को काफ़ी आमदनी होती थी। पिछले कुछ सालों से यह भी बहुत ज्यादा कम हो गई है। यदि १९३१ से कस्टम पर चुंगी की दर और सरचार्ज में वृद्धि न की होती, तो कस्टम की आमदनी और भी भीषणता से कम हो जाती। इन्कमटैक्स के दर में वृद्धि करके और सरचार्ज लगा कर इस आमदनी को किसी तरह स्थिर रखा गया है। इन्कमटैक्स देनेवाली कम्पनियों का कुल नफ़ा मार्च १९३० में

दस साल के लिए ५३ करोड़ कूता गया था, लेकिन १६३२-३३ में यह नफ़ा २६ करोड़ तक गिर गया। यही हाल लोगों की व्यक्तिगत आमदनी के साथ हुआ।

जब केन्द्रीय-सरकार की आमदनी इस तरह कम हो रही है, तब बहुत संभव है कि निकट भविष्य में उसके खर्च बहुत बढ़ जावें। इस बात की तो कोई आशा नहीं है कि फ़ौज व केन्द्रीय-सरकार के दूसरे ज़रूरी मदों में किसी तरह की कोई कमी होगी। शासन सुधारों पर जितनी बहस हुई, जितने सरकारी मैमोरैण्डम व रिपोर्टें निकली हैं, उन सबमें इस बात पर जोर दिया गया है कि केन्द्रीय-सरकार की आमदनी काफ़ी स्थिर और असाधारण परिस्थितियों में बढ़ सकने योग्य होनी चाहिये। सर माल्कम हेली ने ज्वायण्ट पार्लमेण्टरी कमेटी के नाम भेजे गये अपने मैमोरैण्डम में इस बात पर ज़ोर दिया था कि "सैनिक अधिकारी भारत के बजट में नियत सैनिक व्यय से बहुत असंतुष्ट हैं, उनकी सम्मति में सेना की आवश्यकताएँ उससे पूरी नहीं होती। निकट भविष्य में बजट में कोई भारी कमी सोची भी नहीं जा सकती।" दरअसल संसार में शीघ्र ही विश्वव्यापी समर छिड़ने के भय से निकट भविष्य में ज़्यादा संभव यही है कि सैनिक ख़र्चों में काफ़ी वृद्धि की जाय। नये शासन-विधान ने ८० फ़ीसदी केन्द्रीय-व्यय को वोट से बाहर रखकर केन्द्रीय-सरकार के भारी अनुत्पादक ख़र्चों की पूरी हिफाज़त करली है। फ़ौज, पेन्शन, बुढ़ापे

केन्द्र के ख़र्च

या बीमारी की पेन्शन, भत्ते, राजनीतिक व धार्मिक विभाग, सीमान्त रक्षा या पहरा और सार्वजनिक ऋण में से एक पैसा भी घटाने का अधिकार संघ की धारासभाओं को नहीं है। सिविल सर्विस का फौलादी ढांचा भी वैसे ही रहेगा। इण्डियन सिविल सर्विस, इण्डियन मैडिकल सर्विस और इण्डियन पुलिस सर्विस में भारत-मन्त्री पहले की भाँति ही नियुक्तियाँ जारी रख सकेगा। और उनकी तनख़्वाह, पैन्शन व भत्ते आदि नियत कर सकेगा।

टैक्सों का बोझ

कुछ हलकों में यह सलाह दी गई है कि केन्द्रीय-सरकार के ख़र्चे तो कम हो नहीं सकते, इसलिए प्रान्तीय-सरकारों को नये टैक्स लगाकर अपनी आमदनी ज़्यादा करने का अधिकार देना चाहिये। यह भी बहुत दफ़ा कहा जाता है कि हिन्दुस्तान में सब देशों से कम टैक्स लगे हुये हैं। मि० फ़िण्डले शिरास ने भारत व युक्तराज्य ग्रेटब्रिटेन के करों की तुलना की है और वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि भारत में कुल आमदनी पर ४ फ़ीसदी टैक्स है, जबकि ग्रेटब्रिटेन में २४ फ़ीसदी हैं। उनका यह परिणाम स्थिति की बिल्कुल ग़लत तस्वीर हमारे सामने खींचता है। हिन्दुस्तान टैक्सों के भार से ज़्यादा दबा हुआ है, यह मानने के लिए हमारे पास बहुत से प्रमाण हैं। करों के भार की अन्तर्राष्ट्रीय तुलना बहुत कठिन है, क्योंकि किसी जनता की कर देने की शक्ति का माप बहुत कठिन है। यही सोचते

हुए बहुत-सी भूलें हो सकती हैं। हिन्दुस्तान के मामले में तो एक बड़ी मुश्किल यह है कि कुल राष्ट्रीय-सम्पत्ति कितनी है, यही ठीक-ठीक अबतक पता नहीं लग सका, फिर इस प्रकार की तुलना करते हुये दो और बातों का भी ध्यान रखना चाहिये, एक तो यह कि सरकार की आमदनी कहाँ और कैसे खर्च की जाती है और दूसरी यह कि किस अनुपात में वह देश से बाहर खर्च की जाती है। भारत में कुल आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा फ़ौज या ऐसे अनुत्पादक कामों पर खर्च किया जाता है, जिससे जनता को कुछ भी फ़ायदा नहीं पहुँचता। इसके अलावा एक बड़ी भारी रक़म 'होम चार्जेज़' की शकल में देश से बाहर भेज दी जाती है। फिर भी मि० शिरास का हिसाब के प्रत्यक्ष प्रमाणों से ग़लत साबित किया जा सकता है। इन्कमटैक्स देनेवालों की बहुत बड़ी संख्या ५०००) रु० प्रतिवर्ष से कम कमाती है और ५०००) रु० सब की आय पर, इन्कमटैक्स की दर इंग्लैंण्ड से बहुत ऊँची है। जहाँ तक किसानों का सवाल है, इसमें किसी को सन्देह ही नहीं कि टैक्स देने की उनकी ताक़त से बहुत ज्यादा उनपर टैक्स लगाया जाता है। प्रो० ब्रजनारायण ने ठीक ही लिखा है—"किसानों की आज की आमदनी के आँकड़े इस निश्चित और निर्विवाद परिणाम पर पहुँचाते हैं कि देश के अधिकाँश भाग में किसानों पर टैक्स में उनकी ज़िन्दगी दूभर कर दी है। इतने टैक्स देना उनकी ताक़त से बाहर है। किसानों की बढ़ती हुई कंगाली और ऋणग्रस्तता टैक्सों की

ज़्यादती का एक बड़ा प्रमाण है। इसलिए भविष्य में प्रान्तीय सरकारों को मालगुज़ारी आदि से और अधिक आमदनी नहीं हो सकती। दरअसल किसानों की वर्तमान शोचनीय आर्थिक-हालत को देखते हुये टैक्स में बहुत ज़्यादा कमी करने की ज़रूरत है। ज़्यादा आमदनी पर इन्कमटैक्स की दरों में वृद्धि, मृत्युकर तथा खेती की बड़ी ज़मींदारी आमदनी पर कर लगाने से ज़रूर सरकारी-ख़ज़ाने को कुछ मदद मिल सकती है। फिर इस आर्थिक-संकट में इन उपायों की न तो कोई सलाह देगा और न ये उपयोगी साबित होंगे। इसके अलावा यह भी तो नहीं भूलना चाहिये कि कम आमदनियों पर पहले ही बहुत टैक्स हैं और उन्हें कुछ छूट अवश्य मिलनी चाहिये। जब तक मौजूदा माली हालत है, तब तक रेलवे से भी लगातार घाटा ही होता रहेगा। आयात-व्यापार में लगातार कमी होने के साथ-साथ चुँगी की आमदनी भी कम हो गई है और इस बात की भी कोई उमीद नहीं है कि निकट भविष्य में बहुत सालों तक आयात में तरक़्क़ी हो जायगी। इसके सिवाय चुँगी व एक्साइज़ करों ने पहले ही अप्रत्यक्ष-रूप से देश की जनता पर भार डाल रक्खा है और इनमें कुछ भी और बढ़ती करना गाहकों पर बहुत बोझ डाल देगा। जङ्गल, टिकट, रजिस्ट्रेशन व आमदनी के दूसरे ज़रिये भी ऐसे नहीं हैं कि उन्हें और बढ़ाया जा सके।

इस तरह हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस समय प्रान्त इस स्थिति में नहीं हैं कि टैक्स बढ़ाकर अपनी आर्थिक

स्थिति में कुछ सुधार कर सकें। नये विधान
कोई परिवर्तन नहीं के मातहत भी हालत वैसी रहेगी, जैसी अबतक
रही है। केन्द्रीय सरकार का सार्वजनिक
आमदनी के बड़े भारी हिस्से पर क़ब्ज़ा वैसे ही जारी रहेगा और
शिक्षा, स्वास्थ्य, खेती तथा कल-कारखानों की तरक्की आदि
सार्वजनिक हित के महत्वपूर्ण कार्य आज की ही तरह अविकसित
और अन्नुत अवस्था में रहेंगे।

: ६ :

उपसंहार

पिछले अध्यायों में किये गए संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के राज्य में भारत किस तरह पीड़ित हो रहा है। कोई भी आर्थिक प्रश्न हो, ब्रिटिश हितों के लिए भारतीय हितों का बलिदान कर दिया जाता है। जानबूझ कर देश की खेती व कल-कारखानों की तरक्की नहीं होने दी गई। और उसके साम्पत्तिक साधनों का विकास नहीं होने दिया गया। देश के व्यवसाय, व्यापार आदि का बहुत बड़ा भाग विदेशी पूँजीपतियों के लोहमय शिकंजे में जकड़ा हुआ है। ब्रिटेन के आर्थिक और व्यावसायिक हितों की दृष्टि से ही भारत की आर्थिक नीति का सञ्चालन किया जा रहा है। ब्रिटेन भारत का साम्राज्यवादी शोषण भली भाँति कर सके इसीलिये ही भारत का आर्थिक विकास नहीं होने दिया गया। इसके परिणाम-स्वरूप भारतीय-जनता का एक बहुत बड़ा भाग निराश होकर खेती पर चिपट गया है। ज्यादातर लोग भूखे हैं, ग़रीब हैं, अशिक्षित हैं और सैंकड़ों क़िस्म की बीमारियों, दुर्भिक्षों व महामारियों में

मरते जा रहे हैं। गाँवों में किसानों के पास बहुत छोटी-छोटी ज़मीनें हैं और शहरों के मजदूर व मध्य-श्रेणी के लोग व्यापक और गहरी बेकारी से तङ्ग हैं।

सरकार का सारा राजनीतिक-संगठन बिल्कुल निरंकुश बनाया गया है। वायसराय के पास शासन करने व क़ानून बनाने के बेहद अधिकार हैं और वह भारतीय-जनता के किसी भी हिस्से के प्रति ज़िम्मेवार नहीं है। वह ऐसे भारत-मन्त्री के मातहत है, जो ब्रिटिश पार्लमेण्ट के सामने ज़िम्मेवार है। नया विधान भारत को कोई आर्थिक अधिकार भी नहीं देता। आर्थिक-नीति के मामलों में भारत-मन्त्री द्वारा नियन्त्रित वायस-राय ख़ास ज़िम्मेवारियों के नाम पर अपने अधिकारों का इस्ते-माल कर वर्तमान आर्थिक व्यवस्था को जारी रख सकता है। आमदनी व ख़र्च पर संघ की धारा-सभा को बहुत ही थोड़ा अधिकार दिया गया है। नाम-मात्र के स्वतन्त्र प्रान्तों व केन्द्र में आमदनी के ज़रिये इस ढंग से बाँटे गये हैं कि राष्ट्र-निर्माण के लिए ज़िम्मेवार प्रान्तों के पास कुछ वास्तविक उन्नति की कोई योजना चलाने के लिए पैसा ही न बचेगा।

यह भी कभी नहीं भूलना चाहिये कि साम्राज्यवादी-शोषण ने भारत में ऐसी सामाजिक व आर्थिक-पद्धति स्थापित कर दी है कि करोड़ों गरीब जनता के हितों की वेदी पर कुछ पूँजी-पति व जमीदार आदि बहुत ताक़त पकड़ गये हैं। जमींदारी-प्रथा ने

दूषित आर्थिक-संस्था

किसानों को बड़े-बड़े ज़मींदारों व महाजनों की दया पर निर्भर कर दिया है। ज़मींदारी इलाकों में, जहाँ ज़्यादातर किसान ज़मींदारों के आसामी हैं, भारी लगान, बेदखलियाँ, ग़ैरक़ानूनी वसूलियाँ आदि बड़े ज़ोरों से जारी हैं। रैयतवारी इलाकों में, जहाँ काश्तकार छोटे-छोटे ज़मींदार हैं, भारी मालगुज़ारी व क़र्ज़दारी के कारण उनकी ज़मीनें बड़ी तेज़ी से बड़े-बड़े ज़मींदारों व साहूकारों के क़ब्ज़े में जा रही हैं। साहूकारों की सम्पत्ति व प्रभाव ब्रिटिश-शासन में बहुत बढ़ गये हैं। क़ानूनी-तौर पर वे पहले से बहुत ताक़तवर हो गये हैं और यह सभी मानते हैं कि अँग्रेज़ी-राज के १५० सालों में किसानों की कर्ज़-दारी बेतरह बढ़ गई है। भारतीय-कल-कारख़ानों के फिसड्डीपन और विदेशी मुक़ाबिले से बचने के लिए उनके लगातार संघर्ष के कारण कारखाने के मज़दूरों का बुरी तरह शोषण हुआ है।

यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि भारत की सबसे मुख्य समस्या देशव्यापी ग़रीबी है। देश की इस भीषण दरिद्रता के

महत्त्वपूर्ण समस्यायें

कारण आज जो प्रश्न हमारे सामने बड़े ज़ोरों से आ गये हैं, उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न निम्नलिखित हैं:—

(१) किसानों के सवाल। किसान हिन्दुस्तान की जनता का सबसे बड़ा भाग है। भारी मालगुज़ारी व क़र्ज़, खेती के साधनों में सुधार करके उपज बढ़ाना, चकबन्दियों का एकत्री-करण, बिना सूद के इन्हें रुपये की सहायता, ३।। करोड़ भूमि-

रहित काश्तकारों को भूमि देना आदि सवाल हल करने हैं। इनके साथ ही जमीन पर मिलकियत, जमींदारी-प्रथा और साहूकारों के अधिकारों के भी नये महत्त्वपूर्ण प्रश्न पैदा होगये हैं।

(२) कारख़ानों के मजदूरों के सवाल। शहरी जनता का एक काफ़ी बड़ा हिस्सा इन्हीं मजदूरों का होता है। काफ़ी तनख्वाह, काम के घण्टे, घरों का रहन-सहन, विविध आवश्यक सामाजिक बीमे, मुफ्त शिक्षा आदि सवाल भी हमें हल करने हैं। इन सवालों के साथ कुछ और भी नये सवाल खड़े हो जाते हैं; जैसे हड़ताल करना और स्वतन्त्र ट्रेड यूनियन व मजदूरों की राजनैतिक-पार्टी संगठित करना।

(३) मध्य-श्रेणी के शिक्षित युवकों के लिए रोज़ी या बेकारी की हालत में सहायता, दस्तकारी व ऊँची शिक्षा देने की सहूलियतों के सवाल हमें हल करने हैं।

(४) सामान्यतौर पर सारे देश के लिए भी हमें खेती व व्यवसाय की उन्नति और लेखन, भाषण, व संगठन की स्वतन्त्रता जैसे जनता के मौलिक अधिकार के सवाल हल करने हैं। इन सवालों के साथ ही सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण सवाल पैदा हो जाता है और यह सवाल है राजनैतिक और आर्थिक पूर्ण स्वातन्त्र्य का, अपने देश पर अपनी मिलकियत व सत्ता का और प्रतिनिध्यात्मक शासन का।

नये विधान में ऐसे किन्हीं भी उपायों का वर्णन नहीं किया गया है जिनसे हम ऊपर लिखी इन समस्याओं का जल्दी कोई हल कर सकें। साम्राज्यवाद और भारत की जनता में पारस्परिक संघर्ष में समझौता हो ही नहीं सकता। ब्रिटेन अपने स्वार्थों को छोड़ना नहीं चाहता और इसीलिए वह ऐसी असङ्गत बातें करता है। नये शासन-विधान में साम्राज्यवाद की ही भावना दीखती है।

भारत के कोने-कोने से जनता ने नये शासन-विधान को रद करने व नष्ट करने की आवाज़ उठाई है। राष्ट्रीय-काँग्रेस ने इस माँग को मंजूर कर लिया है और इसी के लिए वह काम कर रही है। देश की तमाम साम्राज्य-विरोधी शक्तियाँ इस पर एकमत हैं और बहुत पिछड़े हुए नरम-दली भी यही कह रहे हैं, लेकिन दबी आवाज़ में। लेकिन विधान को सिर्फ़ रद कर देने से ही तो काम न बनेगा। यह भी साफ़ समझ लेना चाहिये कि भारत की राजनीतिक पराधीनता ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा होनेवाले आर्थिक शोषण का ही पूर्व परिणाम है। इसलिए आर्थिक स्वाधीनता के लिए किया गया संघर्ष स्वयं ही राजनीतिक-स्वतन्त्रता की प्राप्ति का संघर्ष बन गया है।

1720

लोक साहित्य माला

'मण्डल' से हम 'लोक-साहित्य-माला' नाम की एक पुस्तक-माला प्रकाशित करने की तजवीज़ कर रहे हैं। इस माला में साधारणत: जन-साधारण की समझ में आने लायक़ पुस्तकें सरल भाषा में, अपने विषयों के सुयोग्य विद्वानों द्वारा लिखाई जायँगी। पुस्तकों के विषयों में जन-साधारण से सम्बन्ध रखने वाले तमाम विषयों—जैसे ग्राम-उद्योग, ग्राम-सङ्गठन, पशु-पालन, सफ़ाई, सामाजिक बुराइयाँ, विज्ञान, साहित्य, अर्थशास्त्र, राजनैतिक सामान्य जानकारी, देशभक्तों की कहानियाँ, महाभारत-रामायण की कहानियाँ, चरित्रबल बढ़ानेवाली कहानियाँ, खेती, बाग़बानी, आदि का समावेश होगा। संक्षेप में हमारा इरादा यह है कि हम लगभग दो-सौ पुस्तकों की एक ऐसी छोटी-सी लाइब्रेरी बना दें, जो साधारण पढ़े-लिखे लोगों के अन्दर आजकल के सारे विषयों को तथा उनको ऊँचा उठानेवाले युग-परिवर्तनकारी विचारों को सरल-से-सरल भाषा में रख दें और उसके बाद उन्हें फिर किसी विषय की खोज में—उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये—कहीं बाहर न जाना पड़े।

आमतौर पर इस प्रकार की २००-२५० पृष्ठों की पुस्तक का दाम हिन्दी में १) या १।) रु० रखा जाता है लेकिन हम इस माला की पुस्तकों का दाम आठ आना रखना चाहते हैं। काग़ज़, छपाई आदि बहुत बढ़िया होगी।

विस्तृत विवरण मण्डल के पते से मंगाइए।

नवजीवन माला

'मण्डल' से हम नवजीवन-माला नाम की एक माला और निकालने जा रहे हैं। इसमें ।) से कम क़ीमत की पुस्तकें आमतौर पर निकलेंगी। उनका उद्देश्य, करोड़ों हिन्दी भाषी ग़रीब लोगों में महात्मा गाँधी और संसार के सत्पुरुषों के नवजीवनदायी विचारों को सस्ते-से-सस्ते मूल्य में फैलाना और उनको भारत की आज़ादी के महायज्ञ के लिये तैयार करना होगा। पहले यह माला कलकत्ते से प्रकाशित होती थी और इसमें ३० छोटी-छोटी पुस्तकें निकली थीं। उसका बड़ा भारी प्रचार हुआ और महात्मा गाँधी, पण्डित जवाहरलाल नेहरू और श्री जमनालाल बजाज ने इन पुस्तकों की बहुत प्रशंसा की। श्री जमनालाल बजाज ने इन पुस्तकों की बहुत प्रशंसा की थी। यह माला, पुरानी पुस्तकों के क्रम में कुछ हेर-फेर के साथ, मण्डल से नियमित रूप से प्रकाशित होती रहेगी। इसकी पुरानी पुस्तकें जो प्राप्य होंगी वे भी मण्डल से मिल सकेंगी और जो अप्राप्य होंगी उनमें से मण्डल जिनको फिर से छपाना ठीक समझेगा वे फिर से भी छपाई जावेंगी।

निम्नलिखित पुस्तकें इस माला में प्रकाशित हो गई हैं। उनका क्रम इस प्रकार का होगा।

१. गीताबोध	(गांधीजी)	—)॥
२. मंगलप्रभात	”	—)॥
३. अनासक्तियोग =)	श्लोक सहित	≡)
४. सर्वोदय	(गांधीजी)	—)
५. नवयुवकों से दो बातें	(प्रिन्स क्रोपाटकिन)	—)
६. हिन्द स्वराज्य	(गांधीजी)	≡)

'सस्ता साहित्य मण्डल' : 'सर्वोदय साहित्य माला के' प्रकाशन

पुस्तक	लेखक	
१. दिव्य-जीवन	श्री स्वेट मार्डेन	।=)
२. जीवन-साहित्य	" काका कालेलकर	१।)
३. तामिल वेद	ऋषि तिरुवल्लुवर	।।।)
४. भारत में व्यसन और व्यभिचार	श्री वैजनाथ महोदय	।।।=)
५. सामाजिक कुरीतियाँ	(ज़ब्त : अप्राप्य)	।।।)
६. भारत के स्त्री-रत्न (तीन भाग)	श्री शिवप्रसाद पंडित	३)
७. अनोखा	" विक्टर ह्यूगो	१।=)
८. ब्रह्मचर्य विज्ञान	" जगन्नारायण देव शर्मा	।।=)
९. यूरोप का इतिहास	" रामकिशोर शर्मा	२)
१०. समाज विज्ञान	" चन्द्रराज भण्डारी	१।।)
११. खद्दर का संपत्ति-शास्त्र	" रिचर्ड बी० ग्रेग	।।।≡)
१२. गोरों का प्रभुत्व	" रामचन्द्र वर्मा	।।।=)
१३. चीन की आवाज़	(अप्राप्य)	।–)
१४. द० अ० का सत्याग्रह	महात्मा गांधी	१।)
१५. विजयी बारडोली	(अप्राप्य)	२)
१६. अनीति की राह पर	"	।।=)
१७. सीता की अग्नि-परीक्षा	श्री काली प्रसन्न घोष	।–)
१८. कन्या-शिक्षा	" स्व० चन्द्रशेखर शास्त्री	।)
१९. कर्मयोग	" अश्विनीकुमार दत्त	।=)

२०. कलवार की करतूत	महात्मा टाल्स्टाय	=)
२१. व्यावहारिक सभ्यता	श्री गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र'	॥)
२२. अन्धेरे में उजाला	महात्मा टाल्स्टाय	॥)
२३. स्वामीजी का बलिदान	[अप्राप्य]	।–)
२४. हमारे ज़माने की गुलामी	[ज़ब्त : अप्राप्य]	।)
२५. स्त्री और पुरुष	महात्मा टाल्स्टाय	॥)
२६. सफ़ाई	श्री गणेशदत्त शर्मा	।=)
२७. क्या करें ?	महात्मा टाल्स्टाय	१)
२८. हाथ की कताई-बुनाई	[अप्राप्य]	॥–)
२९. आत्मोपदेश	" एपिक्टेटस	।)
३०. यथार्थ आदर्श जीवन	[अप्राप्य]	।॥–)
३१. जब अंग्रेज़ नहीं आये थे	स्व० दादाभाई नौरोजी	।)
३२. गंगा गोविन्दसिंह	[अप्राप्य]	॥=)
३३. श्री रामचरित्र	श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य	१।)
३४. आश्रम-हरिणी	" वामन मल्हार जोशी	।)
३५. हिन्दी मराठी कोष	[अप्राप्य]	२)
३६. स्वाधीनता के सिद्धान्त	" टेरेन्स मेक्स्विनी	॥)
३७. महान् मातृत्व की ओर	" नाथूराम शुक्ल	।॥=)
३८. शिवाजी की योग्यता	" गो० दा० तामसकर	।=)
३९. तरंगित हृदय	" आचार्य देवशर्मा 'अभय'	॥)
४०. हालैंड की राज्य क्रान्ति (नरमेध)	" मोटले : चन्द्रभाल जौहरी	१॥)
४१. दुखी दुनिया	" राज गोपालाचार्य	।=)
४२. ज़िन्दा लाश	महात्मा टाल्स्टाय	।)

४३. आत्मकथा	महात्मागान्धी	१॥)
४४. जब अँग्रेज़ आये	[ज़ब्त : अप्राप्य]	१।=)
४५. जीवन विकास	श्री सदाशिवनारायण दातार	१।),१॥)
४६. किसानों का बिगुल	[ज़ब्त : अप्राप्य]	=)
४७. फांसी	विक्टर ह्यूगो	।=)
४८. अनासक्तियोग और गीता-बोध	महात्मा गान्धी	।=)
अनासक्तियोग अजिल्द =)	गीता-बोध -)॥	
४९. स्वर्ण विहान	[ज़ब्त : अप्राप्य]	।=)
५०. मराठों का उत्थान और पतन	श्रीगोपाल दामोदर तामसकर	२॥)
५१. भाई के पत्र	" रामनाथ सुमन	१)
५२. स्वगत	" हरिभाऊ उपाध्याय	।=)
५३. युगधर्म	[ज़ब्त : अप्राप्य]	१=)
५४. स्त्री-समस्या	" मुकुटविहारी वर्मा	१॥) २)
५५. विदेशी कपड़े का मुकाबिला	" मनमोहन गांधी	॥=)
५६. चित्रपट	" शान्तिप्रसाद वर्मा	।=)
५७. राष्ट्रवाणी	महात्मा गांधी [अप्राप्य]	॥=)
५८. इंग्लैण्ड में महात्माजी	श्री महादेव देसाई	१)
५९. रोटी का सवाल	प्रिंस क्रोपाटकिन	१)
६०. दैवी संपद्	सेठ रामगोपाल मोहता	।=)
६१. जीवन सूत्र	थॉमस केम्पिस	॥)
६२. हमारा कलंक	महात्मा गांधी	॥=)
६३. बुद्बुद	श्री हरिभाउ उपाध्याय	॥)
६४. संघर्ष या सहयोग ?	प्रिंस क्रोपाटकिन	१॥)

६५. गांधी विचार दोहन	श्री किशोरलाल मशरूवाला	|||)
६६. एशिया की क्रान्ति	[जब्त : अप्राप्य]	१|||)
६७. हमारे राष्ट्रनिर्माता	" रामनाथ सुमन	२||) ३)
६८. स्वतन्त्रता की ओर—	" हरिभाऊ उपाध्याय	१||)
६९. आगे बढ़ो	" स्वेट मार्डेन	||)
७०. बुद्धवाणी	" वियोगी हरि	||=)
७१. कांग्रेस का इतिहास	डॉ० पट्टाभि सीतारमैया	२||)
७२. हमारे राष्ट्रपति	" सत्यदेव विद्यालंकार	१)
७३. मेरी कहानी	पण्डित जवाहरलाल नेहरू	२||)
७४. विश्व-इतिहास की झलक	" " "	८)
७५. किसानों का सवाल	डा० अहमद	|)
७६. नया शासन-विधान (प्रान्तीय स्वराज्य)	श्री हरिश्चन्द्र गोयल	|||)
७७. गाँवों की कहानी	श्री रामदास गौड़	||)
७८. महाभारत के पात्र	आचार्य नानाभाई	||)
७९. गाँवों का सुधार और संगठन	श्री रामदास गौड़	१)
८०. संतवाणी	वियोगी हरि	||)
८१. विनाश या इलाज ?	म्यूरियल लेस्टर	|||)
८२. अँग्रेजी राज में हमारी दशा	डा० अहमद	||)
८३. लोक-जीवन	काका कालेलकर	||)

आगे प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ—

१. गांधीवाद : समाजवाद — संपादक श्री काका कालेलकर

२. गीता-मंथन — लेखक श्री किशोरलाल मशरूवाला

३. जीवनशोधन — " " "

४. नया शासन-विधान (फेडरेशन)

५. राजनीति की भूमिका — हेरल्ड लास्की